रतनचन्द्र मूणोत स्मृति ग्रंथ-माला—१

समाज और जीवन

[समाज और जीवन की धार्मिक तथा आर्थिक समस्याओं को स्पर्श करने वाले लेखों का संग्रह]

★

सम्पादक
जमनालाल जैन, साहित्य-रत्न

भारत जैन महामण्डल
१९५०

प्रकाशक :

मूलचन्द बड़जाते
सहायक मंत्री,
भारत जैन महामण्डल वर्धा

प्रथम संस्करण : २०००

मूल्य : एक रुपया

मुद्रक :

जमनालाल जैन
व्यवस्थापक
श्रीकृष्ण प्रिंटिंग वर्क्स, वर्धा

अपनी ओर से

'समाज और जीवन' पुस्तक पाठकों के हाथों में है। पाठक देखेंगे कि जीवन की और समाज की जो समस्याएं हमारा ध्यान आकर्षित कर रही हैं या जिनका धुंधला-स्पष्ट-अस्पष्ट चित्र हमारे सामने रहता है उनकी चर्चा इसके लेखों में आई है। लेखकों में विशेष कर वे ही हैं जिनका समाज और जीवन की समस्याओं के चिन्तन से गहरा सम्बन्ध रहा है। मैं समझता हूँ, ये लेख पाठकों को पसन्द आएंगे और चिन्तन का मौका भी देंगे।

अधिकतर लेख जैनजगत के पिछले अंकों से ही संकलित किए गए हैं। कुछ लेखों में पुनः संशोधन करना पड़ा है। विनोबाजी का 'वैश्यों का धर्म' शांति-यात्रा से लिया गया है। सम्पादक उन सब लेखकों के प्रति कृतज्ञ है जिनके लेखों का उपयोग किया गया है और जिन्होंने अपनी अनुमति प्रदान कर उत्साह बढ़ाया है।

पुस्तक का प्रकाशन भारत जैन महामण्डल द्वारा संचालित 'श्री रतनचंद्र मूणोत ग्रन्थमाला' की ओर से हो रहा है। यह उसका प्रथम पुष्प है।

भारत जैन महामण्डल असाम्प्रदायिक संस्था है और सब धर्मों के प्रति समन्वय साधना उसका ध्येय है-फिर भी विशेष रूप में वह श्रमण संस्कृति की समस्याओं को अधिक छूती है। इस संग्रह के अधिकतर लेख श्रमण-संस्कृति से ही सम्बंधित हैं।

आदरणीय डा० हीरालालजी जैन, प्रोफेसर नागपुर महाविद्यालय का कृतज्ञ हूं कि उन्होंने इस पुस्तक के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका लिख देने की कृपा की है।

भाई ए० जी० नन्दनवार ने मुख-चित्र बनाया है। निकटता में धन्यवाद भेद को पैदा करने वाला हो जाता है। वह कला का उपासक है और स्नेह उसका हार्दिक है। उसकी कला उत्तरोत्तर प्रगति पर है, यह उसकी रुचि का प्रमाण है।

संपादन और मुद्रण की जिम्मेदारी मेरी ही रही है—और इस कारण त्रुटियों का उत्तरदायित्व मेरा ही हो जाता है। अशुद्धियों के लिए पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

अगर पाठकों का सहयोग मिला तो ऐसे ही दूसरे प्रकाशन भी पाठकों को भेंट किए जावेंगे।

एक बात और। महामण्डल के प्रकाशन व्यापार की दृष्टि से नहीं, विचार-जाग्रति की दृष्टि से ही किए जाते हैं और इसीलिए कीमत भी कम-से-कम रखने का प्रयत्न रहता है।

वर्धा,
२५ दिसम्बर' ५०

—जमनालाल जैन

अ नु क्र म णि का

आ भा र

प्रस्तुत पुस्तक 'श्री रतनचन्द मूणोत ग्रन्थ-माला' की ओर से प्रकाशित हो रही है। श्री रतनचन्दजी का स्वर्गवास अभी-अभी हुआ है। आप रालेगांव (यवतमाल) में रहते थे। शुरू से ही आपके विचार सर्व धर्म समन्वय के रहे हैं। स्थानकवासी सम्प्रदाय के होनेपर भी न केवल जैन ही बल्कि वैष्णवों के मन्दिरों आदि में भी वे आया-जाया करते थे और विधि-नियमों में रस लेते थे। वे एक धार्मिक ट्रस्ट भी स्थापित करना चाहते थे। यही वृत्ति उनके सुपुत्र श्री हीराचन्दजी में पाई जाती है। उस दिन उन्होंने सहज-भाव से कहा कि वे उन्हीं पुस्तकों को रुचि पूर्वक पढ़ते हैं जिनमें किसी एक धर्म की प्रशंसा और दूसरे सब की निंदा न हो या फिर धर्म की अलौकिक बातें न हो जो धर्म जीवन को स्पर्श नही करता उसे वे धर्म नहीं मानते। यह एक बहुत बड़ी बात है और इसका महत्त्व तब और भी बढ़ जाता है जब ग्रामीण वातावण में रहकर ऐसे विचार सुनने को मिलते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि जब हम मानव-समाज के साथ बिना जाति और धर्म के व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं तब हमें उस अलगाव की क्या जरूरत है जो जीवन से भिन्न पड़ जाने वाले धर्म द्वारा पाला-पोसा जाता है।

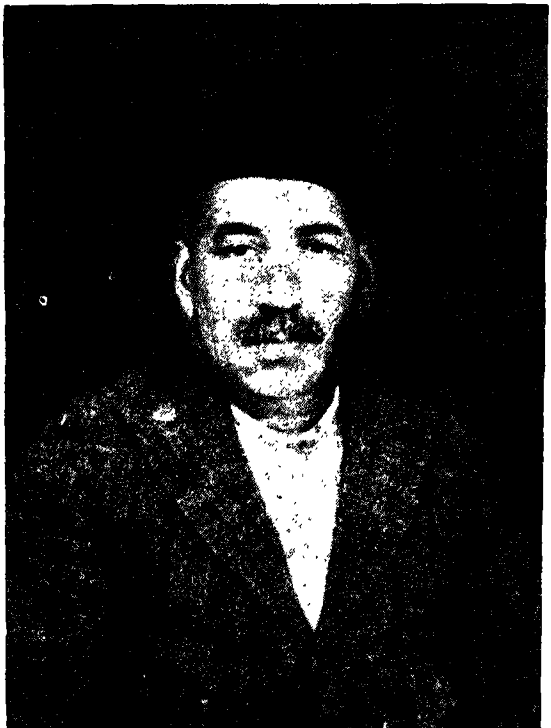
महामण्डल की नीति और जैनजगत से वे इसी कारण प्रभावित हैं और इसी कारण उन्होंने अपने स्व० पिताश्री की स्मृति में १००१ रुपया प्रदान कर यह पुस्तक प्रकाशित करने को प्रेरित किया।

आपके यहां कृषि और साहूकारी का काम-काज होता है।

हीराचन्दजी में सौजन्य, सद्भावना और मिलन-सारिता के काफी गुण हैं।

महामण्डल इस सहायता के लिए उनका अभिनन्दन करता है।

हमारी अभिलाषा है कि जिस सद्भावना से यह ग्रन्थमाला शुरू हुई है उसमें से अच्छी-अच्छी सर्वजनोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हों और श्री हीराचन्दजी को समाधान हो कि उनकी सद्भावना सार्थक हो रही है और उनके दान का सदुपयोग हो रहा है।



स्व० श्री रतनचंदजी मूणोत

आ र म्भि क

मनुष्य है तो एक जीवमात्र ही, जैसे अन्य पशु-पक्षी हैं; किन्तु उस में कुछ प्रवृत्तियां ऐसी विकसित हो गई हैं जिनके कारण वह अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ हो गया है। वे प्रवृत्तियां मुख्यतः तीन ह :— ज्ञान, नीति और कला। मनुष्य अपने को व अपने आसपास की सृष्टिको जानना समझना चाहता है, तथा इस जानकारी में वह केवल अपनी आंख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों से ही काम नहीं लेता, किन्तु मानसिक चिन्तन भी करता है, जिस में वह अपनी बुद्धि द्वारा युक्ति और तर्क से भी काम लेता है। वह कार्य-कारण का संबंध भी जानना चाहता है, और इस के लिये प्रयोग भी करता है तथा अनुमान भी लगाता है। इस प्रकार वह अपनी समझदारी को उत्तरोत्तर बढ़ाता जाता है। यही नहीं, उसने अपने इस ज्ञान का प्रचार और विस्तार करने के लिये समुचित साधन भी खूब जुटा लिये हैं। भाषा द्वारा एक मनुष्य अपना ज्ञान दूसरों को भी दे सकता है व ग्रंथों द्वारा वह इस ज्ञान का अपने दूरवर्ती बन्धुओं तथा भविष्य की सन्तान के लिये भी संरक्षण कर लेता है। यह ज्ञान-शीलता व विवेक मनुष्य के सिवाय अन्य जीवों में नहीं पाई जाती। इसी के बल से मनुष्य ने दर्शन व विज्ञान की उन्नति की है।

नीतिका विचार मनुष्य की, दूसरी विशेषता है। अपने हित व अहित संबंधी नैसर्गिक प्रवृत्ति तो पशुओं आदि में भी पाई जाती है, किन्तु बुरे और भले, पाप व पुण्य, सत् और असत् का विचार मनुष्य की ही विशेषता है, जिस के ही फलस्वरूप धर्म, सदाचार व राजनीति आदि का विकास हुआ है।

उसी प्रकार अपने कार्यों में, उपयोगी घटनाओं में सौन्दर्य व सुव्य-वस्था की स्थापना कर के उस में सुख का अनुभव करना मनुष्य की कला-

त्मक तीसरी विशेषता है, जिस के फलस्वरूप उसने वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, गानकला व काव्यकला आदि का उत्थान किया है।

इन तीन महागुणों की उपासना मनुष्य चिरकाल से करता आरहा है, और उसका ध्येय भी इन में पूर्णता प्राप्त कर लेना प्रतीत होता है। इसीलिये जितने अंश में मनुष्य इन गुणों में उन्नति करता है उतना ही वह सभ्य व सुसंस्कृत गिना जाता है। किन्तु जान पड़ता है कि इन गुणों के विकास की कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं है। नाना देशों व समाजों में ये ही गुण नाना प्रकार से प्रकट हुए हैं, और कालक्रम के अनुसार उनकी विशेष प्रवृत्तियों की क्षति और वृद्धि निरन्तर होती हुई पाई जाती है। एक देश की नीति, सदाचार व सभ्य व्यवहार दूसरे देश से भिन्न पाया जाता है। नाना धर्मों व दर्शनों ने जीव और इतरसृष्टि को भिन्न भिन्न प्रकार से समझा है। जो कुछ आज सुन्दर, कलात्मक व आकर्षक समझा जाता है, वही कल रुचिबाह्य हो जाता है; और जो प्राचीन काल में सत्य व तथ्य विश्वास किया जाता था वही अब अज्ञान व अन्ध-विश्वास माना जाता है। इस प्रकार हमारे ज्ञान और विवेक के विस्तार की कोई सीमा नहीं है।

भारतवर्ष चिरकाल से चिन्तनशील रहा है, और चिन्तनशील समाज कभी एक ही नियमावली के बन्धन में बंधा नहीं रह सकता। सृष्टि गतिशील है, परिस्थितियां निरन्तर बदलती रहती हैं, और तदनुसार हमारी आवश्यकता, रुचि एवं नीति भी विकसित होती जाती है। वेदों में हमारी जिस जीवनशैली का चित्रण पाया जाता है, उसमें उपनिषदों की विचार धारा एवं महावीर व बुद्ध जैसे महापुरुषों के उपदेशों ने एक भारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। यहां विदेशी आये—यवन, शक, हूण और अन्ततः मुसलमान और अंग्रेज। इनसे हमने बहुत कुछ सीखा और उन्हें भी बहुत कुछ सिखाया। 'कबीर और नानक, दयानन्द और रामकृष्ण, एवं तिलक, टागौर और गांधी ने हमारे नैतिक व आध्यात्मिक ज्ञान की धारा को विशुद्ध

और निर्मल बनाने का प्रयत्न किया, समाज के नवीन संगठन की प्रेरणा की, तथा जीवन में एक क्रान्ति उपस्थित की और इस प्रकार उन्होंने हमें परम्परा के प्रवाह में बहने, वादों के भ्रमजाल में भटकने एवं नवीनता की लहरों में डूबने से बचा लिया।

अब हमारा देश स्वतंत्र है। पर क्या हमें स्वाधीनता के सुख का अनुभव हो रहा है? इस देश में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिले जो कह सके कि उसे खाने-पीने पहनने-ओढ़ने व रहने आदि के लिये उपयोगी सब पदार्थ रुचि अनुसार सरलता से प्राप्त होते हैं। धार्मिकता का तो जीवन से मानों संबंध ही टूट गया है, नैतिकता व्यक्ति के जीवन व सामाजिक व्यवहार में से विलुप्त होती जा रही है। निष्ठुर स्वार्थपरायणता व अनुशासन-हीनता जीवन के अंग बनते जा रहे हैं। उधर अन्तर्राष्ट्रीय आकाश में युद्ध के काले बादल पुनः उठते दिखाई दे रहे हैं। विद्वेष, अविश्वास व अहंकार की मात्रा राष्ट्रीयता के स्तर पर संसारभर में बढ़ती जा रही है, जिसका कुपरिणाम सब ओर दिखाई पड़ने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय संघ भी इन बुराइयों से अपने को बचा नहीं पाता। काल की इस गति को मोड़ने का क्या कोई उपाय है?

हमें अपने धर्मशास्त्रों का इस दृष्टि से पुनः अवलोकन करने की आवश्यकता है। प्राचीन आचार्यों व संतों के उपदेशों में हमें यह खोजना है, कि क्या उनसे हमारी आज की समस्याओं को हल करने में कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है। हमें अपने रीति-रिवाज, आचार-विचार एवं वैयक्तिक व सामाजिक जीवन-पद्धतियों पर पुनः विचार कर के देखना है कि क्या वे हमारी सांस्कृतिक धारा के अनुकूल है, तथा क्या उनके द्वारा ही हम अपना कल्याण व संसार को सुमति दान कर सकेंगे?

और सब से बड़ी आवश्यकता तो है स्वतंत्र व निष्पक्ष चिन्तन और विवेक की। प्रस्तुत पुस्तक मे जो लेख-संकलन किया गया है वह हमारी

बुद्धि को इसी दिशा में उत्तेजित करने का अभिप्राय रखता है। इन निबन्धों के लेखक समाज के लब्ध-प्रतिष्ठ चिन्तनशील विद्वान् हैं। प्रत्येक लेख में हमारी राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, समाज-रचना, लोक-सेवा आदि प्रवृत्तियों के कुछ दोष व विकार दिखा कर उनके शोध का उपाय बतलाया गया है। जिनमें सजीवता है और आत्मोन्नति व समाज-विकास की भावना है वे अवश्य इन लेखों को पढ़ेंगे और उनसे लाभ उठा सकेंगे। ऐसे ही चिन्तनशील उपदेशों द्वारा सुधार पर ही हमारे देश व समाज का भविष्य निर्भर है।

नागपुर महाविद्यालय
नागपुर
२९-११-५०

हीरालाल जैन

समाज और जीवन

: १ :

सुख और शान्ति

महात्मा भगवानदीनजी

शांति और सुख :

शांति की पूजा बहुत होती है। और उसको काफ़ी से ज्यादा महत्त्व मिला हुआ है। धर्म-ग्रंथ का अंत 'ॐ शान्ति' कह कर ही किया जाता है। कुरान के अन्त में भी ॐ शान्ति के अर्थों वाला 'अस्सलाम' लिखा मिलता है। सारे धर्मों की बुनियाद शान्ति फैलाने के ख़ातिर पड़ी। फिर भी शान्ति शब्द में आज इतना मिठास नहीं है जितना 'सुख-शान्ति' बोल में। शान्ति के साथ सुख जुड़ जाने से शान्ति का मतलब सब के लिए साफ हो गया है यानी जहाँ शान्ति वहाँ सुख या जहाँ सुख वहाँ शान्ति। यों सुख-शान्ति एक अर्थ वाले शब्द हो जाते हैं।

दिलसे कोई सुख-शांति नहीं चाहता :

सैकड़ों व्याख्यानों को व्याख्यान देने वाले यों शुरू करते हैं: 'सब सुख चाहते हैं और धर्म यह सिखा सकता है कि सुख कहाँ मिलेगा' और फिर आगे चल पड़ते हैं। मानों व्याख्यान देने वालों को व्याख्यान सुनने वालों के मन का ठीक-ठीक और पूरा पता है और उनको अपनी इस जानकारी पर पूरी पूरी तसल्ली यों हो जाती है कि व्याख्यान सुनने वालों में से कोई एक भी उनकी इस मान्यता का खण्डन नहीं करता। हम भी ऐसे व्याख्यानों के सुनने वालों में रहे हैं और हमने भी भेड़-चाल आ

भीड़-चाल के वश में होकर औरों की तरह चुप रहने में ही अपनी सुख-शान्ति समझी है। यह हम यों कह रहे हैं कि हमें बोलना चाहिए था और हम बोले नहीं। बात हमारे मन-लगती नहीं थी, फिर हमें चुप नहीं बैठना था। हम यह न तब मानते थे और न अब मानते हैं कि आदमी जी से सदा सुख-शान्ति चाहता है। वह सुख-शान्ति से ऐसे ही डरता है जैसे दुख-दर्द से। अगर सुख सोने में है तो हमें एक भी ऐसा न मिलेगा जो सौ घंटे या पचास घंटे या पच्चीस घंटे भी सोये। अगर सुख खाने में है तो हमें एक भी ऐसा न मिलेगा जो दस सेर या पांच सेर या ढ़ाई सेर खा जाय। सुख-शान्ति को समझाने के लिए हमें यह तो बताना ही पड़ेगा कि सुख-शान्ति है किस काम में और फिर काम कोई ऐसा बताया नहीं जा सकेगा जिसमें कोई निरन्तर लगकर कुछ ही समय में दुःख न मानने लगे। फिर यह बात कैसे ठीक हो सकती है कि सब लोग सुख-शान्ति चाहते हैं ?

अनुकूल-प्रतिकूल वेदना :

कुछ ऋषियों ने 'वेदना' नाम का एक और शब्द खोज निकाला। वेदना शब्द विद् से बना है। विद् माने जानना, वेदना माने जानकारी। वेदना शब्द वाले ऋषिने सुख को कहा अनुकूल वेदना और दुख को कहा प्रतिकूल वेदना। इस को सीधे शब्दों में यों समझ लीजिये कि मनलगती जानकारी सुख और मन न लगती जानकारी दुख कहलाती है। अब सुख रह गया मनचाही बात। अब धर्म बताये कि वह क्या सुख सिखायेगा ? जो मैं चाहता हूँ उसके मिलने से ही मुझे सुख मिलेगा। अगर धर्म भी मेरी हाँ में हाँ मिलाता है तो धर्म ने मेरा क्या भला किया और मेरे किस काम आया ? और अगर धर्म मेरी बात को काटता है और 'ना' कहता है तो वह मुझे दुःख देता है। फिर यह बात झूठ हो जाती है कि धर्म सुख देता है। इन अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाओं ने बात तो

आदमी के मन-लगती कही पर इसमें ऐसा कोई बीज न मिला जिसे बोकर आदमी सुख-फल की खेती आसानी से काट लेता है।

'आनन्द' और वेदना :

कुछ ऋषियोंने बड़ी ऊँची उड़ान ली और उन्होंने एक नये शब्द 'आनन्द' की रचना कर डाली। इस शब्द की तेज धारसे उन्होंने अनुकूल और प्रतिकूल दोनों वेदनाओं का ही सर काट कर फेंक दिया। यानी सुख-दुःख दोनों को ही बेकार साबित कर दिया या निरी दुनियादारी की चीज़ बना कर छोड़ दिया। अगर आनन्द शब्द का उल्था किया जाय तो वह होगा आत्म-वेदना और घरेलू बोली में वही होगा अपनी जानकारी। तो अब आनन्द रह गया आत्मानंद यानी अपने आप अपने आपे में मगन रहना। और अगर वेदना शब्द से आप चिपके ही रहना चाहते हैं तो आनन्द के माने हो जाते हैं अपने आप को जानते रहना और मगन रहना। वास्तव में बात तो यह बड़ी गहरी है और बड़े बड़े तर्क-शास्त्रियों का मुँह बंद कर सकती है, पर है कोरी कल्पना। हो सकता है बिल्कुल सच्ची हो। पर जहाँ कहीं वह सच्ची मिलेगी वहाँ न हम होंगे न तुम और न यह दुनिया होगी। तब फिर ऐसी सचाई से हमें क्या लेना-देना।

सुख-शांति की खोज :

आइये, अब आसमान से फिर भूतल पर आ जाइये और अपनी सुख-शान्ति से भेंट कीजिये। भला-बुरा जैसा भी सुख इस दुनिया में है और भली-बुरी जैसी भी शान्ति यहाँ मिलती है उसीसे हमें काम पड़ेगा और उसीको पाकर हमें तसल्ली होगी और चैन पड़ेगा। फिर उसी की बात क्यों न करें? आइये, अब उसी की खोज करें और पता लगाएँ कि वह कहाँ रहती है और कहाँ अपने आप आ जाती है? और क्यों अपने आप चली जाती है? वह सिनेमा के फिल्म के चित्रों की तरह निरी छाया ही

क्यों न हों, पर जब हमें सुख देती है तो हमारे लिये तो वह छाया नहीं, बड़ी माया है। हम उसके खोजने या उसकी चर्चा करने में कुछ समय दें तो वह समय बर्बाद किया हुआ नहीं समझा जाना चाहिए।

समाज भी सुख-शांति नहीं चाहता :

शान्ति की खोज में निकलने से पहले यह बात तो हमें अपने जी में बिठा लेनी ही चाहिए कि सुख-शान्ति मिलेगी हमें तभी जब हम सच्चे जी से उसको अपनाना चाहेंगे। हम चाहें और वह न मिले, ऐसा नहीं हो सकता। जो आदमी जो चीज चाहता है, वह कोशिश करके अपने जी से चाहने का सबूत देता है और कोशिश किये जाता है और फिर वह पा भी लेता है। यह हम इसलिए लिख रहे हैं कि हमारा अनुभव हमें यह डंके की चोट बता रहा है कि हम सचमुच सुख-शान्ति नहीं चाहते। न अलग-अलग और न समाज रूपसे। बहुत खोजने पर सौ में से कोई एक ऐसा शायद मिल जाय जो सुख-शान्ति के पीछे लगा हो और उसके पाने की कोशिश कर रहा हो। पर समाज रूपसे तो उसकी भी कोशिश यही मिलेगी कि सुख-शान्ति जितनी दूर रहे उतना अच्छा। अब जब समाज से सुख-शांति दूर है, तो व्यक्ति को कहाँ से मिल जायगी और जब व्यक्ति ही उससे भागता फिरता है तो व्यक्ति से बना हुआ समाज उसे क्या आसमान से बरसा लेगा? सचमुच यह बात हम बहुत बढ़कर कह गये कि न व्यक्ति सुख-शान्ति चाहता है और न समाज। इस बात का हम अगर कोई पक्का सबूत न दें तो यह किसी के गले न उतरेगी। और हमारी हँसी उड़ेगी सो अलग। हमारी हँसी उड़ जाय इसमें तो हम जरा भी दुःख नहीं मानेंगे। मगर हमारी हँसी तो तभी उड़ेगी जब कोई यह साबित कर देगा कि समाज भी और व्यक्ति भी सुख-शान्ति चाहते हैं और अलग अलग और मिलकर सब उसी की खोज में जुटे हुए हैं और जी-जान से कोशिश कर रहे हैं। अगर ऐसी हमारी हँसी उड़ी तो हमारे हिस्से में कुछ सुख ही

आयगा। क्योंकि हम इस बात के क़ायल हैं कि खोज करने से सुख-शांति ज़रूर मिलती है। और खोज करने वाले समाज को ज़रूर मिलेगी। और हम उस समाज के अंग हैं, फिर हम उसको पाये बिना कैसे रह जायेंगे? बहुत न सही कुछ तो बांट में आयेगी ही। पर हम तो अपनी बात पर अड़े हैं। वह बात यह है कि समाज सुख-शान्ति नहीं चाहता और न इस ओर कोशिश कर रहा है।

पाँच भूत और सुख-शांति :

आइये, सुख-शान्ति के लिए पहले पाँच भूतों की खोज करें। जलन को अगर आप दुःख मानते हैं तो ना-जलन में सुख-शांति का निवास है। यह कौन नहीं जानता कि आग जलाने के लिए कम-से-कम तीन लकड़ियों की ज़रूरत होती है यानी जलन या दुःख पैदा करने के लिए तीन का इकट्ठा होना ज़रूरी है। जलन को नाजलन में बदलने के लिए यानी दुःख को शांति में बदलने के लिए इतना ही तो करना है कि तीनों लकड़ियों को अलहदा कर दीजिये। थोड़ी देर में आप ही बुझ जायगी। न औरों को जलायेंगी और न खुद जलेंगी। अब तो घर घर में पत्थर का कोयला इस्तेमाल होने लगा है और बच्चा-बच्चा यह जानता है कि कोई एक कोयला जलती आग से अलग हुआ नहीं कि बुझा नहीं। पानी घटाओं के रूप तूफान लाता है, बिजली गिराता है, अंधेरा करता है, मकान तोड़ता है, पहाड़ तोड़ता है, और न जाने क्या क्या आफ़तें खड़ी करता है। वही जब बिखर कर इधर-उधर फैल जाता है तो सुख-शांति फैलाता है, खेतियाँ सरसाता है और अंधेरे को उजाले में बदल देता है। पानी बाढ़ के रूपमें गाँव के गाँव बहा ले जाता है। पर समझदार लोग बाढ़ से बचने के लिए नदी के किनारे किनारे नहरें तैयार रखते हैं और पानी को छितरा देते हैं। बाढ़ की बला को नहरों के जरिये सुख-शांति में बदल देते हैं। हवा घने पत्ते वाले पेड़ को टक्कर मारकर गिरा देती है लेकिन

जिस दरख्त ने अपने बहुत-से पत्ते छितरा दिये हों, आंधी रूप वाली हवा उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती क्योंकि उससे टकरा कर वह खुद छितरा जाती है। रेल वाले कई सिगनल के हत्थों का नुकसान करने के बाद यह समझ पाये कि उसमें अगर बहुत से सूराख कर दिये जायँ तो आंधी फिर उस न तोड़-फोड़ सकेगी क्योंकि वह खुद इन सूराखों में होकर छितरा जाती है। आग, पानी, हवा गला फाड़ फाड़ कर आदमी को यह सबक दे रहे हैं कि सुख व शांति बिखरने और छितराने में है, सिमटने और इकट्ठे होने में नहीं। पर प्रकृति के ये दोनों गुण हैं कि वह सिमटती सिमेटती है और बिखरती-बिखेरती है यानी दुख-सुख मय है। आदमी दुख से बिलकुल तो नहीं बच सकता पर जरा सोचे समझे तो सुख-शांति के अम्बार खड़े कर सकता है। जो सुख-शांति आज दुनिया में कहीं भी नहीं है और किसी को ढूंढे नहीं मिल रही, उसकी कुछ दिनों में ही इतनी बहुतायत हो सकती है कि जो जितनी चाहेगा, पा सकेगा।

असली सुख बिखरने और छितरने में है :

यह किसे नहीं मालूम कि हमारी हरी हरी खेतियाँ जिनको देख कर हमारी आँखें तर हो जाती हैं, हमारा मन उमंगों से भर जाता है और जिसे देख कर हमारी घरवालियाँ गा उठती हैं और नाचने लगती हैं और हमारे बच्चे खिलखिला उठते हैं वह सब नतीजा है उस के ढेर को छितराने का और खेत में बिखेरने का जो घर में ढेर के रूप में कोठी में बन्द था और अगर कुछ देर और बन्द रहता तो तरह तरह के कीड़े और बदबू पैदा करता, घर भर को दुख देता और सड़कर कितनों को भूखा रखता और यों कितनों को रुलाता, इसका अंदाज नहीं लगाया जा सकता। देखिये न, अब उसीका एक एक दाना खेत में पड़कर कितने गुना हो गया है। याद रहे वह वहाँ ढेर में रहने के लिए नहीं बढ़ा है। अगर कोई उसे ढेर के लिए

बढ़ा हुआ समझे तो वह दुख का ढेर खड़ा करना चाहता है, वह खेत पकने पर जितनी जल्दी, जितने छोटे टुकड़ों में छितराया जायगा उतना ही ज्यादा सुख-शांति फैला सकेगा। बस, इकट्ठे होने में दुःख है पर इसी म सुख भी है अगर हम बिखरने के लिए इकट्ठे हो रहे हों। पर यह याद रहे कि बिखरने की नीयत से इकट्ठे होने में भी असली सुख नहीं, माना हुआ सुख है, सुख की इंतजारी का सुख है। असली और अमली सुख तो छितरने और बिखरने में ही है।

आइये, अब जरा असली दुनिया में आइये। आप को अपनी कमाई के एक महीने बाद किसी एक दिन सौ रुपये इकट्ठे हाथ लग जाते हैं तो वे सुख तो देते हैं पर वही नकली सुख यानी इंतजारी का सुख। अमली सुख तो तभी मिलेगा जब वे कई दूकानों पर बिखेर दिये जायेंगे और वहाँ से तरह तरह की चीजें घर पर आ कर जमा होंगी। अभी जमा हो रही हैं। इसलिए असली सुख के इन्तजार का ही सुख है। अब जरा उसके पक्वान्न बनने दीजिये। अभी भी असली सुख कुछ दूर है। अब उस पक्वान्न को घर भर में बंटने दीजिये यानी बिखरने दीजिये और फिर देखिये कि वे बिखरे हुए सौ रुपये बच्चों को कैसे कुदका रहे हैं, उनसे बड़ों को फुदका रहे हैं, उनसे बड़ों को चहका रहे हैं। और आप यह देख कर खड़े खड़े मुस्कुरा रहे हैं। यह ठीक है कि आप सौ के सौ नहीं खर्च कर डालते, कुछ बचा रखते हैं। जो बचा रखते हैं उतना ही दुःख बचा रखते हैं। आप कह सकते हैं कि हम तो उसे सुख मानते हैं। बेशक, आप ठीक कहते हैं और हम उसके जवाब में यह कहेंगे कि आपने दुख को सुख का नाम दे रखा है। और तभी तो हम यह कहते हैं कि दुनिया में सुख-शांति कहीं नहीं है। हम से अगर आप सलाह लें तो जिस दिन आप को सौ रुपये मिला करें उसी दिन अगर आप उन रुपयों को, अगर आप का कुटुम्ब पांच आदमियों का है, बीस बीस रुपये फी आदमी या और

किसी हिसाब से उनमें बांट दिया करें तो आप देखेंगे कि आप और भी ज्यादा सुखी हो गये हैं और आये दिन भी रोज की झंझट से बच गये हैं। यह बात हम यों ही नहीं लिख रहे, हमने खुद इस तरह का एक आदमी देखा था और यह भी मालूम किया था कि वह औरों की अपेक्षा कहीं ज्यादा सुखी है। हमने उसकी नकल भी की थी और अब तो हम अपने अनुभव के आधार पर यह ज़ोर के साथ कहने की हिम्मत करते हैं कि यह बिखेर देने का तरीका जमा करने की रीति से कहीं ज्यादा सुखदायक होता है।

सूद कड़वा विष है :

हम हैरान हैं सूद की बुराई या सूद में रहनेवाला ज़हर मुहम्मद साहब के सिवा किसी और सन्त को या ऋषि-नबी को क्यों न दिखाई दिया ! सूद का रिवाज़ सचमुच एक ऐसा दुखदाई रिवाज़ कि जिसके रहते समाज का सुखी होना या व्यक्ति का शांति हासिल करना किसी तरह नसीब नहीं हो सकता। इसकी खोटी भलाई लोगों के दिल में इतनी गहरी असर कर गई है कि वे ठंडे जी से इस मामले पर सोचने के लिए तैयार नहीं हो सकते। सूद एक ऐसी बला है जिसने समाज में कहीं टीले खड़े कर दिये हैं और कहीं पोखरे खोद दिये हैं। **सूद समता के लिए बहुत कड़वा विष है**। धन जमा करने का रिवाज़ उनमें भी है जिनकी गरदन में सूद के रिवाज़ की रस्सी नहीं पड़ी है। पर उनका धन जमा करना इतना दुःखदाई नहीं होता जितना सूद लेनेवाले समाज का। आम तौर से धन चांदी और सोने के सिक्कों के रूप में ही जमा किया जाता है और वही तरीक़ा जमा करने का जहरीला है। हाँ, उसका बैंकों में जमा होना तो बेहद जहरीला है। पर हम तो उसे किसी तरह भी जमा होने को समाज और व्यक्ति के लिए दुःखदाई ही समझते हैं। पर जब तक सिक्के का चलन मौजूद है तबतक न लोग जमा करने से रुकेंगे और न सच्चा सुख पा सकेंगे। इसमें शक नहीं कि हमारे ये गिने-चुने शब्द इस

मामले में लोगों की पूरी पूरी तसल्ली न कर सकेंगे और वे हम से और भी ज्यादा खुलासा इस मामले में चाहेंगे। पर हम उन्हें यही सलाह देंगे कि वे ठंडे जी से सूद की ऊँच-नीच पर अकेले में बे-लाग होकर एक बार गहरी नजर डालें तो। तो वे जरूर उसी नतीजे पर पहुँच जावेंगे जिस पर हम पहुँचे हैं। उनके सोचने के लिए इतना इशारा हम किये देते हैं कि वे एक बार इस तरह सोचें कि उन्होंने कुछ रुपया सूदपर ले रक्खा है और कौड़ी चुकाने के लिए पास नहीं और फिर इस हैसियत से सोचें कि उन्होंने अपना सारा रुपया उधार दे रक्खा है और आसानी से एक कौड़ी भी वसूल नहीं हो पाई। तब वे सब तरह के नीचान-ऊँचान में होकर निकल जायेंगे और सूद की सब तरह की बुराइयाँ उनकी समझ में आ जायंगी और फिर आप वे इस नतीजे पर पहुँच जायेंगे कि सचमुच सुख पैसे के जमा करने में नहीं है उसके छितराने और बिखराने में ही है।

छितराना प्रकृति का नियम :

यह किसको नहीं मालूम कि होशियार हकीम और वैद्य जब किसी मरीज को अपने हाथ में लेते हैं तब सब से पहला काम वे उस चीज़ को छितराने का करते हैं जो बहुत दिनों से मरीज के पेट में भूल से जमा होती रही है। इसके लिए वे दस्त और कै का सहारा लेते हैं और अगर इससे भी नफा होता नहीं देखते तो नस-फसद खोलकर खून छितराने पर उतारू हो जाते हैं और आखिर मरीज को सुख-शान्ति पहुँचाने में कामयाब हो ही जाते हैं। चबाकर खाने पर कौन समझदार जोर नहीं देता ! चबाना, खाना छितराने के सिवा और चीज ही क्या है ? और सचमुच जिन्हें चबा-चबाकर खाने की आदत हो गई है उन्हीं से पूछिये तो वे आप को बतायेंगे कि खाने का सच्चा सुख और खाने की चीजों का सच्चा स्वाद उसी तरह मिलता है और उन्हीं को मिलता है। उनको सुख नहीं मिलता जो बड़े-बड़े कौर मुंह में रखकर निगल जाते हैं। उन्हें न खाना खाने का सुख

मिलता और न हजम करने और रस बनाने का सुख मिलता है। सांस लेने में इतना आनन्द नहीं आता जितना सांस बाहर फैंकने में। सांस लेना यानी हवा को एक कोठरी में इकट्ठा करना और सांस फेंकना यानी हवा को छितराना। असल में सांस फेंकने में हम उस ज़हर को निकाल फेंकते हैं जिसको हम अपनी भूलों से अन्दर जमा करते रहते हैं। फिर सांस फेंकने यानी हवा को छितरा देने में हमें सुख मिलना ही चाहिए। थोड़े शब्दों में प्रकृति हमें तन्दुरुस्त बनाये रखने के लिए जमा करने का काम भी करती है, पर बिखरने-बिखराने का काम ज्यादा करती है। और इस तरह वह थोड़ी देर दुःखी रखकर ज्यादा देर सुखी रखना चाहती है। हम उसके तरीक़ों पर न अच्छी तरह से नज़र डालते हैं और न उससे कोई सबक लेना चाहते हैं। फिर यह कैसे समझा जाय कि हम सुख-शान्ति चाहते हैं।

शासन में छितराने का प्रयोग :

आइये, अब ज़रा हुकूमती कामों की तरफ आइये। हुकूमत जब समाज को सुख-शान्ति पहुँचाना चाहती है तो ऐसी भीड़ को पुलिस की लाठियों से छितरा देती है जिसपर उसको यह शक होता है कि वह जनता की शान्ति को भंग करनेवाली है। इतना ही नहीं, अच्छे से अच्छे काम के लिए जमा होनेवाली भीड़ की देखरेख के लिए सरकारी पुलिस का इन्तजाम रहता ही है। अगर कहीं किसी वजह से सरकारी पुलिस वहाँ नहीं पहुँच सकती तो भीड़ जमा करने वाले पहले ही से अपनी पुलिस तैयार रखते हैं जिसको वे स्वयंसेवक दल का नाम दे लेते हैं। इसका यही मतलब है कि भीड़ जमा करने वालों को भीड़पर पूरा एतबार नहीं रहता। वे खूब समझते हैं कि जहाँ भीड़ इकट्ठी होगी वहाँ ऊधम होगी ही। भीड़ में ऊधम का न होना अचरज माना जा सकता है पर ऊधम का होना तो मामूली बात माना जायगा। भीड़ में फिर चाहे वह धर्मात्माओं का मेला ही क्यों न हो, गठकटों और जेब-कतरों की खूब बन आती है।

लुच्चों और लफंगों की मौज रहती है। बस, भीड़ को ऐसे ही समझिये जैसे गहरी अंधेरी रात, जब चोरों की बन पड़ती है। सरकार ने अमन और शान्ति रखने के जो कानून बनाये हैं उनमें से एक है दफा १४४, जिस की यही तो मनशा है कि भीड़ न इकट्ठी होने पाए और अगर इकट्ठी हो तो छितरा दी जाय। उस कानून की रू से पांच-छः आदमी भी भीड़ समझे जाते हैं। अब तो सरकारी कागजों से भी यह साबित हो गया कि सुख-शान्ति छितरा कर ही फैलाई जा सकती है। एक मुल्क कितनी ही अच्छी नियत से दूसरे मुल्क से लगती अपनी हद में अगर फौजें इकट्ठी करता है तो वह दूसरे मुल्क की सुख-शान्ति भंग करता है और दूसरे मुल्क को तबतक चैन नहीं पड़ता जबतक कि उसका पड़ोसी मुल्क अपनी इकट्ठी हुई फौजों को वहाँ से न हटा ले। यानी उन्हें न छितरा दे या न बिखरा दे। अगर पड़ोसी मुल्क किसी तरह इसपर राजी नहीं होता तो फिर वह उसी तरह अपने मुल्क की हद में फौजें इकट्ठी करता है और अगर जोरदार हुआ तो पड़ोसी मुल्क की फौजों को धकेल कर हटा देता है, छितरा देता है या खत्म करके बेकार कर देता है और अगर बहुत जोरदार हुआ तो पड़ोसी मुल्क डरकर ही अपनी फौजें हटा लेता है और छितरा देता है। यानी दुःखी और अशान्त मुल्क कांटे से कांटे को निकालता है। पर जो कांटा पांव में लगा हुआ होता है वह भी कांटा है और जो उस कांटे को निकाल रहा है वह भी कांटा है। कांटा अगर दुःखदाई होने की वजह से बुरा है तो वह पांव में लगा हो तो भी बुरा है और हाथ में हो तब भी बुरा है। हाथ वाला कांटा ही कब पैर वाले कांटे को बिना पांव को और दुःख दिये निकाल पाया है ? इसलिए फौजों का इकट्ठा होना हर तरह दुखदाई है और उनका बिखर जाना हर तरह सुखदाई है।

शहर गाँवों में छितरें :

हवाई जहाज से गिरनेवाले मामूली बम से ही नहीं, एटम बम से

बचने के लिए भी सब से अच्छी तजवीज यही है कि समाज बड़े बड़े शहरों में जो जमा हो गया है वह पाँच-पाँच और दस-दस घर वाले गाँवों में बहुत बड़े हिस्से में छितरा दिया जाय। बस, एटम बम का ख़तरा दूर हो गया। यह इस तरह कि एटमबम इतना क़ीमती होता है कि उसे दुश्मन पाँच-दस घर वाले गाँवपर गिरा कर बेहद टोटे में रहेगा। इसलिए वह बम गिराने की बेवकूफ़ी कभी नहीं करेगा। इसी सिलसिले में यह भी समझ लेना चाहिए कि ये बड़े बड़े कल कारखाने समाज के उन सदस्यों के लिए जो उसमें काम करते हैं बेहद दुःखदाई हैं; पर इसकी चर्चा तो अभी हम करते नहीं। अभी तो हम यह बताना चाहते हैं कि ऐसे कल कारख़ाने हुकूमत के ख़याल से भी बड़े दुःखदाई हैं। दुश्मन के बम उनपर गिरकर करोड़ों की रोज़ी का एकदम ख़ात्मा कर सकते हैं। यही कल कारख़ाने छितर कर छोटे रूप में गाँव के घरों में रहटी, चरखा, धुनकी, करघे और कोल्हू और कढ़ाव का रूप ले लें तो दुश्मन सकपका जाय और हमारा देश भी एकदम करोड़ों की रोजी न खो पाये। न फिर कपड़े के बिना नंगा रहे और न शक्कर के बिना उदास। ये बातें अब ऐसी बातें नहीं रह गईं जिन पर लम्बी चौड़ी बहस की जरूरत हो। जिनको जताने के लिए हम ये बातें लिख रहे हैं वे हम से ज्यादा अच्छा समझते हैं। अगर हम में इन बातों के बारे में एक मन विश्वास है तो उन में एक रत्ती भी नहीं और इसी वास्ते जानते हुए भी वे इस पर अमल नहीं करते। अक्ल विश्वास को आसानी से कबूल नहीं करती और किसी ने ठीक ही कहा है कि "अक्ल जब आती है, आती ठोकरें खाने के बाद"। गोरी पलटनों ने एक लड़ाई हारकर ही पतलून की जगह नेकर को अपनाया। कारखानों के छितराने की बात भी तजरबे के मास्टर के मुँह से ही सीखने पर चित्त पर अंकित हो पायेगी। पर हो सकता है कि वह सबक इतनी देर से मिले कि हम हाथ मलकर रह जायँ। तभी तो हम कह रहे हैं कि सचमुच समाज सुख-शांति नहीं चाहता।

हिन्दुस्तान की सुख-शांति नष्ट कैसे हुई ?

अंगरेजी सरकारने अच्छी नियत से न सही, किसी भी नियत से आनरेरी मजिस्ट्रेटों की बुनियाद डाली। इस तरह एक जगह बहुत इकट्ठी हुई इन्साफ़ करने की ताक़त को छितराया जिससे डिप्टी कलक्टरों और जिला मजिस्ट्रेटों को थोड़ा-सा सुख मिला। जनता को भी कुछ सुभीता हुई। अंगरेजी सरकार ज़रा भी यह नहीं चाहती थी कि हुकूमत की ताक़त या इन्साफ़ की ताक़त उसके हाथ से निकलकर हिन्दुस्तानियों के हाथ में जाय। हिन्दुस्तानी जनता के हाथ में देने की बात तो वह कभी सपने में भी नहीं सोच सकती थी। अंगरेजी राज में हम दुखी थे पर हम सुखी थे यह हमें पता कहाँ था ! यह तो भूले-भटके कभी कभी कांग्रेस के कुछ उग्र नेता शहर के इने-गिने पढ़े-लिखों के जी में यह बिठाने की कोशिश करते रहते थे कि वे अंगरेजी राज में दुखी हैं। उनकी समझ में कुछ-कुछ आता भी था, पर जब वे अपने हजारों-लाखों रिश्तेदारों में से और हजारों-लाखों जान-पहचान वालों में से किसी एक को भी नायब तहसीलदार या तहसीलदार देख लेते थे तो सब दुःख भूल जाते थे और उग्र नेताओं की बात को निरा धोखा ही समझते थे; इसीलिए वे सुख-शांति की कोशिश नहीं करते थे। दुख देखते देखते उसी को सुख समझने लगे थे। बस, चोटी के दस-बीस समझदार समझते थे कि जबतक ताक़त कुछ लोगों के हाथ में इकट्ठी रहेगी तब तक देश सुखी नहीं हो सकता। पर उनकी सुनता कौन था ? जिस अंगरेज ने हिन्दुस्तान में बिखरी पंचायती ताक़त को एक कलम से खत्म कर दिया वही सब से ज्यादा समझदार अंगरेज़ था और वही हिन्दु-का सब से बड़ा दुश्मन था जो हिंदुस्तान के सुख को अगस्त्यमुनि की तरह एक चुल्लू में पी गया। उस के बाद हिंदुस्तान को कभी सुख-शान्ति का स्वाद नहीं मिला और इसलिए वह उसको इतना भूल गया कि दुःख-दर्द को ही सुख-शान्ति समझने लगा।

कॉंग्रेस का संगठन :

सन् १९२० में हिन्दुस्तान के सन्त ने लोगों को सुख-शान्ति का ज्ञान कराया। पर उसे तो हिन्दुस्तान के पाँव में लगे काँटे को निकालना था और वह काँटा तो काँटे बिना नहीं निकल सकता था। यह ठीक है कि उसने अपनी समझ में मुलायम से मुलायम काँटे से काम लिया पर वह इतना सख्त तो जरूर था कि काँटा निकालने के काम में न मुड़ता था, न ढीला पड़ता था और वह था कांग्रेस का संगठन। उस संगठन के नियमों को पढ़कर देश-बन्धु दास तो फड़क उठे थे और कह बैठे थे कि यह तो नई सरकार गढ़ी जा रही है। और सचमुच सन् २० और २१ में कांग्रेस ने सारी ताक़त फिर चाहे वह हुकूमत की हो या इन्साफ की, अंगरेज के हाथ से छीन ली थी। और गाँव-गाँव में नहीं तो शहरों-शहरों और ज़िलों-जिलों में छितरा दी थी। अब जिला-कांग्रेस का प्रेसिडेण्ट आपोआप जिला-मजिस्ट्रेट बन बैठा था। और अंगरेज जिला-मजिस्ट्रेट अपनी कचहरी में हाथ पर हाथ धरे रहता था। यही हाल कुछ सूबे के सूबेदारों का था। और यही वे दिन थे कि जब अंगरेजी राज रहते हुए भी हिन्दुस्तानी बेहद सुखी थे क्योंकि हुकूमती और इन्साफ़ी ताक़त छितरकर करोड़ों नहीं, लाखों भी न सही तो हज़ारों के हाथों में ज़रूर बढ़ गई थी और वह सच्ची ताक़त थी। क्योंकि उस ताक़त ने लोगों को हाथ का पक्का और लंगोटी का सच्चा बना दिया था। अंगरेजी ताकत अब नाम को रह गई थी। असली ताक़त अब सब हिन्दुस्तानियों के हाथ में थी। धीरे धीरे किसी वजह से वह ताकत हिन्दुस्तानियों की मुट्ठी में न रह पाई और शायद इस वजह से कि वे उसको आगे गाँव में न छितरा पायें इसलिए वह फिर घरों-घरों की छतपर फैली मिट्टी की तरह बरसात के रेले से उसी पोखर में पहुँचने की तरह से जहाँ से वह आई थी उन्हीं अंगरेजों के हाथ में फिर से पहुँच गई और फिर वह मुट्ठी-भर गोरों के हाथ की चीज़ बन गई। और बरसों तक उन्हीं के हाथ

में ज्यों की त्यों सुरक्षित रही। सन् '२० और '२१ जैसे सुख का मज़ा हिन्दुस्तान की जनता फिर कभी न ले पाई। सन् '४७ में सचमुच अंग्रेज़ हिन्दुस्तान छोड़कर चल दिये। बेशक वे हुकूमती और इन्साफी ताकत अपने साथ नहीं ले गये पर उसे अपने से भी कम तायदाद वाली छोटी जमात के हाथ में सौंप गये और इस तरह वे हिन्दुस्तान को और भी ज्यादा दुखी बना गये। हिन्दुस्तान के सन्त ने उन दिनों के वाइसराय माउण्ट बेटन से बहुत चाहा कि वे एक छोटा-सा काम तो जनता के सुख का अपने हाथ से कर जायँ और वह यह कि नमक-कर को अपने हाथ से खत्म कर जायँ। पर पत्थर-दिल माउण्टबेटन या राजनीति के गूढ़ पंडित माउण्टबेटन किसी तरह न पसीजे और बर्त्तानिया के सर पर महात्मा गान्धी के शब्दों में इतने बड़े यश का मुकुट बांधने के लिए राजी न हुए। इसमें क्या गूढ़ रहस्य था इस पर हम कलम उठाकर क्या करेंगे, इसके समझने का काम हम अपने पढ़ने वालों पर छोड़ दें।

हिन्दुस्तान के सन्त की तड़प :

हाँ तो हिन्दुस्तान का संत अपने जीवन में हिन्दुस्तान की सुख-शांति की न कोई योजना बना पाया और फिर सुख-शांति फैलाने की बात तो कही ही कैसे जा सकती थी। अंगरेज़ों के चले जाने के बाद सुख-शांति फैलाने की जितनी तड़प उस संत में थी उतनी किसी में नहीं थी यह कहना तो कुछ कहना नहीं होगा। उसकी चौथाई भी उन सब में नहीं थी जो हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के ख़ातिर उस के साथ-साथ या उस से अलग हथेली पर सिर लिए फिरते थे। वह वही संत था जो अपने सब संगठनों को छितरा देना चाहता था और सच्चे किसान की तरह अपने हरेक साथी को अनाज के दानों की तरह जीते-जी राजनीतिक शक्ति के खयाल से ज़मीन में दफ़न कर देना चाहता था। या दूसरे मानों में वह अपने एक एक साथी को सौ-गुना बलवान् या सौ में बदल देना चाहता था। वह सचमुच

तपस्या से पाई ऋद्धि-सिद्धि को सच्चे व्यापारी की तरह मेहनत से कमाये एक एक सिक्के को व्यापार में लगा देना चाहता था या सूद पर उठा देना चाहता था। वह निकम्मी और जल्दी नष्ट होने वाली राजसत्ता को बिखरा-छितराकर सकम्मी और कभी न नष्ट होनेवाली नीति-सत्ता में बदल देना चाहता था। वह आत्म-बल का विश्वासी था, नीति-बल का पुतला था। वह समझदार होने के दिन से मरने के दिन तक राज-बल को ठुकराता रहा। और सत्य तथा प्रेम-बल को गले लगाता रहा। क्या वह अपने साथियों को सत्यबल और प्रेमबल के अलावा कोई दूसरा बल अपनाने की सलाह दे सकता था? राजबल का इच्छुक हिंदुस्तान में कौन नहीं? राजबल के इच्छुकों की खोज करने की कहाँ जरूरत है? उन के लिए विज्ञापनों पर पैसा खर्च करना पैसे का दुरुपयोग करना है। इस बीसवीं सदी में जब एक सक्के का छोकरा यानी कहार का लड़का अफगानिस्तान के खानदानी बादशाह अमानुल्ला के हाथ से अफगानिस्तान की गद्दी छीन सकता है और अफगानिस्तान पर बरसों न सही, कुछ महीनों राज कर सकता है और ऊंचे से ऊँचे पढ़े-लिखों को अपनी उंगली के इशारों पर नचा सकता है तो हिन्दुस्तान का भी गंगुआ तेली, मुहम्मदा कुंजड़ा, कलुआ कुम्हार और रमजानी भिश्ती राजसत्ता लेने के लिए मिल सकते हैं और वक्त पड़ने पर जिलों को ही नहीं सूबों को भी संभाल सकते हैं। हिन्दुस्तान में रामराजू और चीतू पांडों की कमी नहीं है। इनका राज फिर चाहे वह दिनों और हफ्तों ही रहा हो, हिन्दुस्तान के 'जिसकी कोमड़ी उस के गीत गानेवाले' सैकड़ों आई. सी. एसों से हजार गुना अच्छा था। उस के राज में जनता ही नहीं वे दूसरों के बल पर भेड़िया बननेवाले आई. सी. एस. भी मेमने बने सुखी थे। पर ऐसे रामराजू और चीतू पांडे डाक्टरों के ढूंढे नहीं मिल सकते। उस के लिए संत की आँख ही नहीं, संत की श्रद्धा और चाह भी चाहिए। 'मुझ जैसे दुनिया में और नहीं' कहने-वालों को हिन्दुस्तान में ही नहीं, दुनियाभर में ऐसे आदमी नहीं मिल सकते

जो उसकी जगह ले सकें। उसकी ज॰॰ भरने का अगर कोई छाती पर हाथ रखकर दावा कर सकता है तो या तो वह यमदूत होगा या उसी का कोई सगा सहोदर होगा। राजसत्ता चलाना कितनी ही टेढ़ी खीर क्यों न हो पर नीति-बल और सचाई की धाक जमाना उससे भी सवा टेढ़ी खीर है। राजसत्ता में अगर जान जोखम है तो बेहिसाब नक़ली आदर और बेहिसाब दुनियादारी का सुख भी है। तभी तो उसके लिए हर मैं और तू लालायित रहता है। और दुनियाभर की मुसीबतें झेलने के लिए सब से आगे चलता दिखाई देता है। नीतिसत्ता में भी अपना सुख है क्योंकि बिना सुख के कोई उसकी तरफ क्यों दौड़ेगा? पर वह सात्त्विक सुख है। आत्मसुख है। वह अपने आपको तो खूब दिखाई देता है पर अपने जान-पहचानवालों, रिश्तेदारों, यहाँ तक कि अपने सगे सहोदरों और आत्मजों तक को नहीं दिखाई देता। उसे वह नीति-सत्ता धारी खुद भी न दूसरों को दिखा सकता है और न समझा सकता है, इतना ही नहीं जितनी वह उनको समझाने की कोशिश करता है उतनी उतनी ही वह नई आफत अपने सिर मोल लेता है। विश्वास की जगह उसका लोगों को अविश्वास हो जाता है और वह उसे छोड़कर राजबल अपनाने के लिए भाग खड़े होते हैं। वे यह समझ ही नहीं पाते कि एक माँ बाहरी सुख को त्याग कर और भीतर के सुख को अपना कर ही बालक को बाहरी सुख पहुँचा सकती है। आम दुनिया यही समझती है कि वह खूब धन कमाकर गरीबों में उसे बांट सकती है और उसको धन सुख पहुँचा सकता है। या वह बहुत बड़ी राजसत्ता हाथ में लेकर ही लोगों को राजबल बांट सकती है और राजसुख पहुँचा सकती है। आम दुनियादारों की उस तरफ निगाह ही नहीं जाती कि जिस धन त्याग कर और उसे बिखरा कर वह दुनिया को सच्चे मानों में सुखी बना सकते हैं और राजसत्ता त्याग कर दुनिया को सच्चे मानों में राज बलशाली बना सकते हैं।

न जाने क्यों राजनीति के पंडितों को राजाओं का सीधा-सच्चा इतिहास ठीक-ठीक सबक़ नहीं देता। उन्हें मालूम है कि जब बर्त्तानिया की ताक़त राजा नामधारी एक आदमी की मुट्ठी में थी तब बर्त्तानिया इतना सुखी नहीं था जितना तब जब वही ताकत राजा के कौंसिल नामवाली पांच-सात आदमियों की गोष्ठी में बंट गई थी। भले ही राजा पूरे ज़ोर से ताक़त को अपनी मुट्ठी में ही थामे हुए था और क्या उनको यह नहीं मालूम कि बर्त्तानिया तब उतना सुखी नहीं था जब कौंसिल और राजा में बिखरी ताक़त उसपर राज कर रही थी जितना तब कि जब वही ताक़त पार्लियामेण्ट के दो घरों और सैकड़ों सदस्यों में बंट गई थी। और क्यों इसी के आधारपर वे अब यह नहीं समझ लेते कि आज का बर्त्तानिया का दुःख और ज्यादा सुख में बदल सकता है। अगर वही राजसत्ता गांव गांव में छितरा दी जाय और बर्त्तानिया के हर गांव को सब बातों के लिए न सही तो बहुतसी ज़रूरी बातों के लिए छोटे छोटे जम्हुरी राज्यों का यानी रिप-ब्लिकों का रूप दे दिया जाय। अगर बर्त्तानिया आज ऐसा नहीं करता तो उसकी जनता न सुख-शांति को पहचानती है और न सुख-शांति चाहती है। अगर जनता चाहती भी हो तो वहां के एम. पी. कहलाने वाले पार्लियामेंट के मेम्बर तो हरगिज नहीं चाहते, क्योंकि सत्ता हाथ से छोड़ना मामूली काम नहीं है। वह और अपनाई जा सकती है, छोड़ी नहीं जा सकती। सत्ता छोड़ना, शराब और अफीम छोड़ने से हजार गुना नहीं लाख गुना मुश्किल होता है। और हिन्दुस्तान में आज कौन सी बीमारी है! अंगरेज़ ने हिन्दुस्तान के साथ खरे शब्दों जो सब से बड़ी दग़ा की है या राजनीतिक शब्दों में सब से गहरी चाल चली है तो वह यह है कि वह हिन्दुस्तान के मुट्ठीभर आदमियों के हाथ में सत्ता थमा कर गया है और उसका वश चलता तो वह उसको अकेले हैदराबाद के निज़ाम के हाथ में या उदयपुर के महाराणा के हाथ में या इधर-उधर से लाये किसी और राजा-नवाब के हाथ में या और न सही विक्टोरिया के खानदान के किसी

चार्ज एडवर्ड के हाथ में थमा कर जाता। पर सन्त के रहते इस तरह की चाल चलने की वह न सोच सका। किसी तरह हम यह मान लेते हैं कि अंगरेज मुट्ठीभर आदमियों के हाथों में सत्ता तो दे गया है पर वे हैं देवता-स्वरूप और तभी तो वे खुले हाथों अपनों को ही नहीं, गैरों को भी बांट रहे हैं। पर यह याद रहे कि वे कितनी ही अपने और गैरों में उसे बांटें उससे ज्यादा नहीं छितरा सकते जितनी अंग्रेज अपनों में छितराये हुए था। और गैरों में कुछ को बांट कर करोड़ों को ललचाये हुए था। अगर आज हमारे मुट्ठीभर सत्ताधारी उसे अंगरेज से ज्यादा खुले हाथों बांट रहे हैं तो हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि अगर वे दस सेर बांट रहे हैं तो बीस सेर जनता के हाथ से छीन रहे हैं। कण्ट्रोल और राशनिंग जनता के हाथ से राजसत्ता खींचना नहीं तो और क्या है? इसलिए इस खुले हाथ बँटवारे में भी राजसत्ता के मैदान में टीले और ऊँचे होते चले जा रहे हैं और तालाब और गहरे होते चले जा रहे हैं। असमता तेज़ी से बढ़ रही है। सुख-शांति पैरों में पंख लगाये हिन्दुस्तान की ओर पीठ किये हुए निकलते सूरज की ओर बढ़ती चली जा रही है। देखें कब पीछे मुड़कर देखती है। हम यह कहे बिना भी नहीं रह सकते कि जैसे काजल की कोठरी में घुस कर कोई काला हुए बिना नहीं रह सकता वैसे ही राजसत्ता की कोठरी में घुस कर कोई बौखलाये बिना नहीं रह सकता और राजसत्ता की मदिरा पीकर कोई राजसत्ता की प्यास नहीं मिटा सकता। वह अपने हाथ से राजसत्ता की मदिरा का प्याला कभी नहीं फेंक सकता, होंठ से भी नहीं हटा सकता। उस का प्याला तो उस का कोई सच्चा हितैषी ही उस के हाथ से छीन सकता है या कोई सन्त ही उससे छीन कर उसके प्याले और बोतल दोनों को तोड़ कर फेंक सकता है। अगर ऐसे हितैषी या संत अशोक की तरह उन मुट्ठीभर सत्ताधारियों को न मिले तो फिर कोई उन जैसा ही उन के बराबर वाला उन के हाथ से छीन कर प्याले को अपने मुंह लगा-यगा और बोतल छीन कर उल्टी बग़ल में दबाकर अपनों के प्यालों में

उंडेलेगा और इन मदमातों के साथ क्या करेगा यह समझने का काम हम पढ़ने वालों पर छोड़ते हैं ।

केन्द्र ज़ानदार खूंटा :

हिन्दुस्तान की राजसत्ता एक कीली के चारों तरफ थुपती चली जा रही है और हर छोटे बड़े में एक लहर दौड़ गई है कि वह आवाज़ लगाकर यही कहता फिरता है कि सब बल वहीं थोपे जाओ, वहीं थोपे जाओ, और वहीं थोपे जाओ । कीली सचमुच बड़े काम की चीज़ होती है । खूंटा सचमुच सहारा होता है । पर वह तभी तक सहारा है जब मैं अपनी भैंस का पगहा अपने आप उस खूंटे में बांधूं; लेकिन खूंटा जानदार हो और मेरे हाथ से मेरी भैंस का पगहा छीन कर अपने में बांध ले तो वह सहारा नहीं वह तो ढेकला कहलायगा । और आज हिन्दुस्तान में क्या हो रहा है ? आज केन्द्र जानदार खूंटा बना हुआ है और उससे जनता अपनी भैंसें नहीं बांध रही, वही पगहा छीन छीन कर भैंसों को बांध हुए है । भैंसें प्यासी हैं, वे खूंटे से खोली नहीं जाती इसलिए गर्दन तोड़ाती हैं । वे भूखी हैं, चरने के लिए खोली नहीं जाती, इसलिए वे रस्सा तोड़ाने की कोशिश करती हैं । यह ठीक है कि आज केन्द्र का खूंटा खूंटा नहीं है । वह तो दीवार में सटाया हुआ बेंटा है और कोई भैंस उसे कितना ही जोर लगाकर उखाड़ नहीं सकती । पर इसका क्या भरोसा है कि पगहा भी इतना मज़बूत है या गर्दन की गाँठ भी इतनी ही सख्त है कि वह भैंस के ज़ोर का पूरी तरह मुक़ाबला कर सकेगी ? हो सकता है पगहा भी इतना ही मज़बूत हो पर इसकी ही क्या गारंटी है कि भैंसवाले खड़े खड़े इस गर्दन तुड़ाने के तमाशे को चुपचाप उस समय तक देखते रहेंगे जिसकी कोई मियाद बंधी हुई नहीं है । किसी समय यह केन्द्र से बंधने की धत और धुन भली हो सकती है पर आज तो वह नहीं है । और कुछ बातों के लिए आज भी हो पर हर छोटी-बड़ी बात के लिए आज वह कैसे भी नहीं है । और हम आज ही की बात कह रहे हैं ।

राजसत्ता बिखरे :

आज तो इस बात की बहुत बड़ी ज़रूरत है कि सत्ता को हद से ज्यादा बिखेरकर जनता को सुखी और शान्त बनाया जाय। तभी तो राष्ट्र का पिता सत्ता को सीधे बिखराने की योजना ऐन मरने के दिन कांग्रेस के सामने रख गया था। पर वह तो ऐसे उड़ा दी गई मानो वह एक ऐसे कोरे संत की कही हुई बात थी जिसका सीधे-नासीधे कभी राजनीति से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा था। हमें संतों की दुहाई पीटने की आदत नहीं है और हवाले दे देकर लिखना भी हमारा तरीका नहीं है। हम तो आख़िर-पर ज़ोर इसीपर देना चाहते हैं कि किसी तरह का भी बल क्यों न हो इकट्ठे होने से दुखदाई होता है और बिखर जाने से सुखदाई। बस, राजसत्ता बिखर कर ही, परतरीके से बिखर कर ही हिन्दुस्तान में सुख-शान्ति फैला सकती है और सुख-शान्ति का स्वाद पाकर ही जनता उसकी कदर करना सीख सकती है, उसको सरसाने में लग सकती है, उस के बनाये रखने की योजनाओं में जुट सकती है और उसपर अगर किसी तरफ़ से भी आफ़त आये तो सर से कफ़न बांधकर उसकी रक्षा के लिए भी निकल सकती है। जान लेने की तैयारी से कभी किसी ने देश की रक्षा नहीं की। जान देने की तैयारी से ही देश की रक्षा हुआ करती है और जान देने के लिए वही तैयार हो सकते हैं जिन्हें सुख-शान्ति की चाट पड़ गई हो। और सुख-शान्ति सच्चाई और ईमानदारी के साथ अपने बल को दबाने और अन्याय को दबाने के सिवा और है ही क्या चीज़?

सुख-शान्ति ही सब कुछ है। उसी को जानना और समझना चाहिए। उसी को पाना सब कुछ पाना है और उसको पाकर अपने पर पूरा अधिकार हो ही जाता है। और अपने पर अधिकार करना ही सुखी होना और औरों को सुख-शान्ति बांटना है।

: २ :

श्रमणों की समस्या

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

आर्य-संस्कृति में जैन तथा बौद्ध परिव्राजक ही सामान्यतः 'श्रमण' कहलाते हैं। आर्य-संस्कृति की यदि दो शाखाएँ मानी जायं: वैदिक तथा अवैदिक; तो जैन तथा बौद्ध 'श्रमण' ही अवैदिक संस्कृति के प्रतिनिधि हैं।

'वैदिकों' के लिये 'अवैदिक' होना जैसे निग्रह तथा निन्दा का भी विषय हो सकता है, ठीक उसी तरह 'अवैदिकों' के लिए 'वैदिक' होना थोड़ा उपहास का विषय है।

"वैदिक" धर्म का संन्यास-मार्ग कदाचित्, श्रमण संस्कृति की ही देन है। इसलिये जब हम 'श्रमणों की समस्या' की चर्चा कर रहे हैं तब प्रकारान्तर से सभी शास्त्र-सिद्ध परिव्राजकों की समस्या सामने आती है। 'श्रमण' और 'संन्यासी' में भेद करने का हमारा आग्रह भी नहीं है।

ऐसे भी विचारक हैं जो संन्यास-आश्रम को ही मात्र अप्राकृतिक मानते हैं। उनकी दृष्टि में किसी को भी कभी भी 'श्रमण' अथवा 'संन्यासी' नहीं बनना चाहिए। ऐसे विचारकों की बातें अभी रहने दें।

सामाजिक-कारणों से, आर्थिक-कारणों से, नैतिक अथवा आध्यात्मिक कारणों से आज से ढाई हजार वर्ष से भी पहले श्रमण-संस्था की नींव पड़ी होगी। तब से उसने लगभग सभी धर्मों में किसी-न-किसी रूप में स्थान पाया है।

हर संस्था के कुछ-न-कुछ नियम, कुछ-न-कुछ विनय (डिसिप्लिन) रहती है। श्रमण-संस्था की भी है। जैन श्रमणों की है। बौद्ध भिक्षुओं की है। उतनी व्यवस्थित न सही, किन्तु हिन्दू संन्यासियों की भी है ही।

आज हम 'श्रमणों की समस्या' पर किसी ऐसी सामाजिक दृष्टि से विचार नहीं करने जा रहे हैं, जिस प्रकार हम 'भिखमंगों की समस्या' पर विचार करते हैं। हम इस प्रश्न पर श्रमणों की अपनी दृष्टि से विचार करना चाहते हैं।

श्रमणों की अपनी समस्या गहरी है। उसका 'धर्म' और 'जीवन' से सम्बन्ध है, इसीलिये वह कम-से-कम उनके अपने लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। मैं अपने जैन "श्रमण" और बौद्ध "भिक्षु" मित्रों के जीवन से दो-एक उदाहरण देकर उस समस्या की ओर अंगुली-निर्देश करना चाहता हूँ।

सारनाथ (बनारस) बौद्ध-तीर्थ तो है ही, वह तीर्थङ्कर श्रेयान्सनाथ की भूमि होने से जैन-तीर्थ भी है। वहाँ एक जैन-मंदिर है। प्रायः कुछ-न-कुछ लोग बौद्ध-मंदिर के साथ जैन-मंदिर के दर्शनार्थ भी आते ही रहते हैं। मैं सारनाथ में काफी समय रहा हूँ और अब भी मन का सम्बन्ध बना ही है। 'तथागत' की धर्म-चक्र-प्रवर्तन भूमि होने से किसी भी 'भिक्षु' का ही नहीं, किसी भी भारतीय का ही नहीं, विश्व के किसी भी नागरिक का उससे सम्बन्ध टूट ही कैसे सकता है? जब मैं सारनाथ में रहता था तब प्रायः रोज घूमने जाता। एक दिन शाम को चला जा रहा था कि उधर से एक जैन मुनि आते दिखाई दिए। उन्होंने पूछा :

"सारनाथ-मंदिर कितनी दूर है?"

मंदिर उस स्थान से एक मील भी दूर नहीं रहा होगा, किन्तु थके हुए का योजन लम्बा हो ही जाता है। मैंने सोचा, यदि मैं इनके साथ वापिस लौट चलूँ तो इन्हें 'साथ' हो जायगा और मैं बातचीत करके इनकी चर्य्या के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ नई जानकारी प्राप्त कर लूँगा। इनका रास्ता कटेगा और मेरा ज्ञान बढ़ेगा।

मुनिजी से कुछ ही दूर पर दो आदमी बहुत-सा सामान लिए आ रहे थे। उनकी ओर संकेत करके मैंने पूछा :

"यह आदमी आपके साथ हैं ?"

"हाँ !"

"तो आप जब यात्रा में रहते हैं, तब आपकी भिक्षा की क्या व्यवस्था रहती है ? हमने सुना है कि जैन मुनियों की ठण्डे-गर्म पानी के विषय में भी मर्यादा है।"

"हम जहाँ जाते हैं, भिक्षा कर लेते हैं।"

"आप अपने साथ के इन दो आदमियों से भोजन क्यों नहीं बनवा लेते ?"

"हम अपने लिये इनसे भोजन नहीं बनवा सकते। हाँ, यह अपने निज के लिये भोजन बनाते हैं। उसमें से हम 'भिक्षा' ले लेते हैं।"

अब आप ज़रा विचार कीजिए कि इस द्रविड़-प्राणायाम का क्या अर्थ है ? मुनि महाराज 'भिक्षा' ग्रहण करते हैं। वे उन्हीं दो आदमियों की बनाई हुई 'भिक्षा' ग्रहण करते हैं ! वे दोनों आदमी जहाँ जहाँ मुनि महाराज जाते हैं सामान लिये उनके साथ-साथ चलते हैं ! किसी न किसी श्रद्धालु सेठ ने मुनि महाराज के लिए ही यह व्यवस्था कर रखी है। यह सब होने पर भी मुनि महाराज को यह स्वीकार करने में अनौचित्य मालूम होता है कि वह भोजन उनके लिये बनता है।

आप इसे कदाचित् मुनि महाराज का 'ढोंग' कहेंगे। किसी के भी आचरण के लिये सहसा "ढोंग" शब्द का उपयोग करने से सरल कोई दूसरा काम नहीं। किन्तु हमें इसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

मेरी समझ में मुनि महाराज "ढोंगी" नहीं थे। वे वैसा ही करने के लिये मजबूर थे। उनके जैसे मानसिक संस्कार थे और उनकी जैसी आर्थिक वा भौतिक परिस्थिति रही उसमें वे और कुछ कर ही नहीं

सकते थे। ठीक उन्हीं की परिस्थिति में कोई भी दूसरा आदमी और कुछ कर ही नहीं सकता।

वे मुनि थे। भिक्षा उन्हें मांगनी ही चाहिए। श्रमण-संस्कृति ने भिक्षा-संस्था की जो कल्पना की और उसका जो विकास किया उसमें मूल बात यही है कि संन्यासी समाज के लिए 'दूभर' न हो। उसका समाज पर कम-से-कम भार पड़े। यहाँ तक कि किसी को भी 'उसके लिए' भोजन न बनाना पड़े। गृहस्थ जो अपने लिए बनाए उसी में से मधूकरी-वृत्ति से साधु चार घरों से थोड़ा थोड़ा लेकर अपना जीवन-निर्वाह कर ले। इसी दृष्टि से जैन-श्रमणों की चर्या में यह उत्कृष्ट नियम है कि वह वही भोजन करें जो उनके लिए न बना हो। अब इस नियम के रहते मुनि महाराज "अपने लिए" उन आदमियों से भोजन बनवाने लग जाएँ तो उनमें तथा दो नौकरों को साथ साथ लिए फिरनेवाले किसी भी सेठ-साहूकार में अन्तर ही क्या रह जायगा ?

प्रश्न होता है, तब वे जहाँ जाते हैं वहीं "भिक्षा" क्यों नहीं मांग लेते ? आज प्रायः भिखारी ही 'भिक्षुक' रह गए हैं। भिखारियों को जो और जैसा भोजन जैसे मिलता है उसे आज कौन श्रमण ग्रहण करने के लिये तैयार है ? और सच्ची बात है 'श्रमण' को यदि 'भिक्षा' मिलती है तो पूज्य-बुद्धि से ही मिलनी चाहिए; कुछ दया-बुद्धि से नहीं। 'श्रमण' अपरिग्रही है, वह दरिद्र नहीं है। वह भिक्षु है; भिखमंगा नहीं है। जिस दिन श्रमण भिखमंगा हो जायगा उस दिन उसकी तेजस्विता ही नष्ट हो जायगी।

फिर मुनि-महाराज को 'पानी' [illegible] पानी'' ही चाहिये है जो उनके लिए गरम न किया हुआ हो ! तब वे घर घर भिक्षा मांग ही कैसे सकते हैं ? परिणाम वही [illegible], [illegible] मुनि महाराज की चर्य्या में दर्शन हुआ है।

---

१ – प्राशुक अथवा गरम किया हुआ या [illegible] जल। –सं०

अब मैं अपने ही एक स्नेह-भाजन श्रमण महिन्द्रजी का उदाहरण लेता हूँ। जैन-श्रमणों की तरह बौद्ध-श्रमणों से भी पास में पैसा न रखने की आशा की जाती है। श्रमणों की दोनों 'विनयों' में ही नहीं, सभी परिव्राजकों को रुपया-पैसा रखना वर्जित है। श्रमण भिक्षा-जीवी है। रोज की रोज भिक्षा मांग खाता है। पैसा उसके किस काम का? पैसा रखेगा तो संग्रह भी हो ही जायगा। उस के नष्ट होने का भय रहेगा और उस के सुरक्षित रखने की चिन्ता।

किसी भी भिक्षु अथवा श्रमण को क्या जरूरत पड़ी कि वह अपने आप को 'निन्नानवे के फेर' में डाल व्यर्थ हैरान हो! इसीलिये श्रमण-संस्था में प्रत्येक के लिये 'अपरिग्रही' रहना श्रेष्ठ नियम ठहराया गया है।

श्रमण महिन्द्र बर्मा से बौद्ध-दीक्षा लेकर आए हैं। नया मुल्ला बहुत अल्ला-अल्ला पुकारता है, यह एक सर्व व्यापक सिद्धांत है। बिचारे श्रद्धापूर्वक जितना ज्ञान है उस के अनुसार 'विनय' पालन करने की पूरी चेष्टा करते हैं। पैसा न रखने का नियम तो एक अत्यन्त सीधा-सादा नियम है, जो सारी श्रमण परम्परा को मान्य है। इन पंक्तियों का लेखक स्वयं वर्षों पैसा न रखने और रखने की उलझनों में उलझा रहकर आज किसी भी सामान्य आदमी की तरह पैसे का व्यवहार करने लग गया है। उस दिन सारनाथ में महिन्द्रजी ने कहा :

"मेरा कुछ पैसा अमुक......आदमी के पास है। वे जा रहे हैं। आप के साथ कोई आदमी हो तो उसे दिलवा दूं।"

"आपका पैसा मैं भी ले सकता हूँ" कह कर मैंने वह अपने साथी गुणाकर को दिलवा दिया।

दूसरे दिन उन के दिल्ली के पास एक छोटीसी जगह तक जाने की व्यवस्था करनी थी। मैंने उसके पैसे ले यह व्यवस्था कर देने का भार

अपने ऊपर लिया। स्टेशन पहुँचा। बाबू से पूछा—"आप एक टिकट दे देंगे?"

"अभी गाड़ी आने में देर है। एक घण्टे बाद मिलेगा।"

टिकट मुझे इन स्वामीजी के लिए चाहिये। यह पैसा पास रखते नहीं। मैं इन्हें अभी टिकट ले देकर चला जाना चाहता हूँ।"

"तो लाइए, किन्तु कहाँ का चाहिए?"

स्टेशन का नाम बताया। वह छोटा-सा स्टेशन! बाबू की रेलवे-गाईड तक में नहीं ही मिल रहा था। मैं ढाई रुपये का एक नया टाइम-टेबल खरीद लाया। उसमें स्टेशन का नाम दिखा कर कहा—"यह स्टेशन है।"

वह छोटा-सा स्टेशन! उसकी मील-संख्या नहीं दी थी! पता नहीं कितना किराया लगता है? वहाँ गाड़ी ठहरती है या नहीं? इन दो प्रश्नों को लेकर काफी परेशानी हुई। अंतमें बाबू ने दो दो स्वामियों के प्रभाव से प्रभावित होकर टिकट बना दिया।

मैं चाहता था कि महिन्द्रजी को रात को सुरक्षित सोने की जगह भी मिल जाए। स्थान सुरक्षित करनेवाले क्लर्क से भेंट की। उसने कहा:

"गाड़ी आने पर ही हम कुछ कर सकते हैं। गाड़ी यहाँ से चलती होती तो अभी कुछ कर देते।"

"यह स्वामीजी पैसा नहीं रखते। मैं अभी जाना चाहता था। आप पैसा ले लेते। गाड़ी आनेपर स्थान सुरक्षित कर देते।"

"यदि गाड़ी में स्थान न मिले तो मैं यह पैसा इनको लौटा दूँ?"

"अरे! यह पैसा रखते होते तब तो बात ही क्या थी! आप ऐसा करें, यह पैसा रख लें। मैं फिर आ जाऊँगा। यदि इन्हें स्थान न मिला तो आप यह पैसा मुझे लौटा दीजिएगा।"

महिन्द्रजी साथ साथ यह सब देख सुन रहे थे। अब उनसे न रहा गया। वे छोटे बच्चे नहीं हैं। उन्होंने गृहस्थ-जीवन में, फौज में ओवर-सीयरी की है। उनके मन में छिपे हुए बुद्धिवाद ने उनकी भावना पर कड़ी चोट लगाई। वह चोट आँसू बनकर बहने लगी। बोले :

"भन्ते ! मुझे क्षमा करें ! मैं नहीं जानता कि यह शील-पालन है अथवा दुःशीलता है ? आप को मेरे कारण इतना कष्ट हो रहा है !"

मैंने उन्हें ढाढ़स बंधाई :

"मामूली बात है। किसी भी नियम-पालन में थोड़ी असुविधा होती ही है। हर नियम-पालन के एक से अधिक पहलू होते हैं। आपको यह पहलू भी देखने मिल रहा है। अच्छा ही है।"

अब भी महिन्द्रजी पैसा न रखने के उस नियम को निबाह तो रहे हैं, किन्तु मैं जानता हूँ कि उनके हृदय में एक स्थायी संदेह घर किए हुए है कि यह शील-पालन है अथवा दुःशीलता !

श्रमण-संस्कृति के दो सामान्य प्रतिनिधियों के जीवन से ली गई यह दोनों सामान्य घटनाएँ किस बात की ओर इशारा करती हैं ? ये कौनसा प्रश्न हमारे सामने लाकर खड़ा करती हैं ?

प्रश्न सीधा-सादा है। वह प्रश्न किसी भी चारित्र्य-हीन ढोंगी श्रमण को हैरान नहीं करता। किन्तु, जिसके जीवन में सचाई है, जिसके जीवन में श्रद्धा है, उसके सामने सचमुच यह बड़ा भारी प्रश्न है कि आखिर वर्तमान समय में उसके धर्म-जीवन का माप-दण्ड क्या हो ?

अभी कल-परसों जम्बूमुनिजी महाराज तथा उनके गुरुजी ने मुझसे मिलने आने की कृपा की थी। गुरुजी ने जो प्रश्न मुझसे पूछे वह ऐसे ही थे "रेल में चढ़ सकते हैं या नहीं ? शाम को भोजन खा सकते हैं या नहीं...इत्यादि।"

उनके वे प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। वे बतलाते हैं कि आज के अनेक चिन्तक श्रमणों के लिए यह एक बड़ी भारी समस्या है कि वे रेल में चढ़ें, अथवा नहीं? शाम को खाएँ अथवा नहीं!

किन्तु, मैं इसे दूसरी दृष्टि से देखता हूँ। मेरी जिज्ञासा यह है कि क्या एक 'मुनि' रेल में चढ़ने से 'मुनि' नहीं रहता और यदि वह रेल में नहीं ही चढ़े तो क्या यह कोई ऐसी विशेष बात है जिसे किसी के भी धार्मिक-जीवन का ऊँचा माप दण्ड माना जाय?

'विनय' के सभी नियम साध्य हैं, साधन नहीं। क्या देश-काल के बदलने पर साध्य की सिद्धि के लिए बहुधा साधन बदलने नहीं पड़ते? कुछ लोगों का कहना है कि यदि कोई श्रमण 'विनय' नहीं पालन कर सकता तो उसे 'श्रमण' बनने की ही क्या आवश्यकता है? मेरी जिज्ञासा है कि क्या जीवन के धर्म-रूप का मात्र प्रतिनिधित्व इन नियमों के पालन द्वारा ही होता है? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि देश-काल की ओर ध्यान न दे जड़वत् किन्हीं नियमों को पालते रहना 'अधर्म' का ही द्योतक हो? प्रश्न नियमों के पालन कर सकने अथवा न कर सकने का नहीं है। प्रश्न नियमों के पालन करने के औचित्य तथा अनौचित्य का है।

'नियमों' का पालन करना और वर्तमान युग के सामान्य जीवन के माप-दण्डों के मुताबिक कौतुकागार की सामग्री बनकर पड़े रहना एक रास्ता है।

'नियमों' को पालन-करना उचित न समझने के कारण दीक्षा का ही त्याग कर देना दूसरा रास्ता है।

'नियमों' के पीछे जो भावना है उसे ग्रहण कर देश-काल के अनुसार उन नियमों का नये ढंग से पालन करना तीसरा रास्ता है।

श्रमणों का भविष्य इन तीन रास्तों में से एक सही रास्ता चुनने पर निर्भर करता है। यदि 'संघ' न चुन सके तो फिर व्यक्ति को ही चुनाव करना पड़ेगा।

देखें श्रमण-संस्था का भावी इतिहासकार क्या लिखने जा रहा है।

: ३ :

कर्त्तव्य और अधिकार

महात्मा भगवानदीनजी

जीवन का निचोड़

विलायत के कवि बायरन के बारे में यह बात मशहूर है कि जब वह इम्तिहान के परचे के इस सवाल के बारे में सोच रहा था कि "पानी हज़रत ईसा को देख कर क्यों शराब बन गया ? इस पर एक लेख लिखो" तो वह घंटों सोचता रहा पर उसकी समझ में कुछ न आया। जब तीन घंटे पूरे होने को हुए तब कहीं उसको एक बात सूझी और वह यह थी कि जब पानी ने अपने मालिक को देखा तो वह खिल उठा। बस, उस सवाल के जवाब में इतने ही शब्द लिखे और कहते हैं कि वह इम्तिहान में पास हो गया। इसी तरह मैंने बहुत सोचा कि कर्त्तव्य और अधिकार के बारे में क्या लिखा जाय तो मुझे बस इतनी ही बात सूझी कि कर्त्तव्य और अधिकार भारतीयों के जीवन का निचोड़ है और उसके बारे में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि 'कर्त्तव्य-पालन पर हम अधिकार हासिल करें और कर्त्तव्य-पालन ही हमारा अधिकार है।' इतना कहकर रेडिओ वालों की और आप सुननेवालों की तसल्ली हो जानी चाहिए थी। पर न मैं बायरन हूँ और न आप उस तरह के परीक्षक हैं। इसलिये तेरह मिनट अभी और कुछ कहना पड़ेगा।

दोनों एक दूसरे में समाहित

कर्त्तव्य और अधिकार भारतीय जीवन में इतने घुलमिल गये हैं कि आप अधिकार को बिना कर्त्तव्य के और कर्त्तव्य को बिना अधिकार के न

सोच सकते हैं, न बोल सकते हैं और न कर सकते हैं। हमारे यहाँ का शब्द 'अधिकार' अपने पीछे एक कथा लिये हुए है। और यही हाल कर्त्तव्य का है। अधिकार और कर्त्तव्य के लिए अंगरेजी में शब्द हैं Right और duty। पर ये Right और duty ही कब वह माने रखते हैं जिन मानों को लेकर आज अमेरिका और यूरप वाले लड़ रहे हैं और जिनकी देखादेखी हम सब भारतीय भी वैसा ही कर रहे हैं। अधिकार पाने की लड़ाई कैसी ? और अधिकार हासिल करने से रोकेगा कौन ? अधिकार हमारी कमाई का फल होता है। बस, वह कर्त्तव्य कमाई का फल है। अधिकार के और हमारे बीच में कोई आ ही कैसे सकता है ? क्या पेड़ और फल के बीच में कभी कोई आ पाया है ? क्या दीपक जलने और प्रकाश होने के बीच में कभी कुछ देर लगी है ? इसी तरह कर्त्तव्य-पालन करते करते हम किसी-न-किसी अंश में अधिकार पाते ही रहते हैं। और किसी-न-किसी चीज़ के अधिकारी बनते ही रहते हैं। उसको साफ़ साफ़ समझने के लिए आइये आपको उन दिनों के भारत में ले चलें जिन दिनों सिकन्दर का हमला उसकी उत्तर-पच्छिमी सरहद पर हो रहा था। सिकंदर के मुकाबले में था राजा पुरु। हम यहाँ इस वक्त सिकन्दर और पुरु के कर्त्तव्यों और अधिकारों की चर्चा नहीं करेंगे, हम चर्चा करेंगे उस वक्त के दो मामूली आदमियों की जो खेती का काम करते थे। ये दोनों पुरु के दरबार में उस वक्त पहुँचते हैं जब सिकन्दर भी पुरु के पास बैठा हुआ होता है। इन दोनों मामूली आदमियों में से एक को दूसरे के खिलाफ़ यह शिकायत थी कि यह मेरी ज़मीन में निकले हुए खजाने को लेने से इन्कार करता है और दूसरा अपने इन्कार की वजह यह बताता था कि जिस ज़मीन में यह ख़ज़ाना निकला है उस जमीन को मैं इसके हाथों बेच चुका और जब वह जमीन मेरी नहीं रही तो उसमें से निकला हुआ खजाना मेरा कैसे हो सकता है ?

कर्त्तव्य और अधिकार की एकता का आनन्द

देख लिया आपने ? कर्तव्य और अधिकार भारतीय जीवन में मिलकर कितने एकमेक हो गये और इनकी एकमेकता आज भी कभी कभी जब आँखों के सामने आ जाती है तब देखने वाले गद्गद हो उठते हैं। और इसी एकमेकता के फल की बात कभी हम सुन लेते हैं तो इतना मन उमंगता है कि आँखों से आँसू बहने लगते हैं। अब सोचिये जो आदमी इस तरह से अपने जीवन में कर्त्तव्य और अधिकार को एकमेक कर लेगा उसको इस एकमेकता के आधारपर खड़े होकर काम करने में कितना आनन्द आयेगा। पुरु-युग के उस किसान के आनन्द को ज़रा तोलकर देखिये कि जब उसकी ज़मीन में ख़ज़ाना निकलता है तो वह अपना यह कर्त्तव्य समझता है कि वह उस खजाने के असली मालिक को जितनी जल्दी हो सके यह खुश ख़बर सुनाये कि उसकी ज़मीन में उसका ख़ज़ाना मिला है और वह अपना खजाना ले ले। ख़ज़ाने के लिये अपने कमाये हुए पैसे से मोल ली हुई अपनी ज़मीन को उसकी ज़मीन मानता है। उसका कर्त्तव्य उसे सिर्फ जमीन पर अधिकार करने को कहता है, उस ख़ज़ाने पर नहीं, जो ज़मीन के सौदे में शामिल नहीं है। उधर दूसरा आदमी यानी ज़मीन बेचने वाला जो अपनी ज़मीन पर की हुई मेहनत का फल रुपयों के रूप में पूरा पूरा पा चुका होता है, वह अपना यह कर्त्तव्य समझता है कि वह सिर्फ उन रुपयों पर अधिकार जमाये जो उसे सौदे में ईमानदारी के साथ मिले हैं, न कि उस ख़ज़ाने पर जिसके बारे में न वह जानकार है न अजानकार। अब अगर पहला आदमी ख़ज़ाने पर अधिकार जमा लेता है तो वह कर्त्तव्य भूल जाता है और कर्त्तव्य के बिना पाया हुआ अधिकार डरावनी चीज़ है। वह चरित्र तो बिगाड़ता ही है, जान को भी जोखम में डालता है। इसी आदमी के मामले को ले लीजिये। अगर वह ख़ज़ाने को अपनाना अपना अधिकार मानता है तो उसे अपने कर्त्तव्यशील मन

को सौ असत्य युक्तियाँ देकर समझाना पड़ेगा और तब भी मन की पूरी पूरी तसल्ली न हो पायेगी और अगर किसी तरह से मन की तसल्ली उसने कर ही ली तो मन कर्त्तव्य-शीलता में या तो ढीला पड़ जायगा या उसे हमेशा के लिये खो बैठेगा। और फिर चरित्र क्या रह जायेगा ? वही जान-जोखम की बात। यह हो सकता है कि उस ख़ज़ाने का असली या नकली कोई दावेदार खड़ा हो जाय और न मालूम फिर किन किन झंझटों का सामना करना पड़े और हो सकता है जान भी जोखम में पड़ जाय।

अधिकार का अधिकारी

यहाँ हमें बंकिम बाबू की दलील याद आ जाती है। वे अपने 'चौबे का चिट्ठा' में एक जगह अदालत में 'चौबेजी' के मुँह से बड़े मज़े की बात कहलवाते हैं। उस बात से अधिकार और कर्त्तव्य दोपहर के चमकते हुए सूरज की रोशनी में आ जाते हैं। चौबेजी के मुँह से निकलता है " जीत के बल पर अगर किसी देश पर किसी राजा का अधिकार ठीक माना जा सकता है, तो चोरी के नाते चोरी की हुई चीज़ पर चोर का अधिकार क्यों ठीक नहीं ?" यहाँ यह तो समझ ही लेना चाहिए कि ईमानदारी से कर्तव्य-पालन करते हुए मेहनत से कमाई हुई चीज़ पर ही अधिकार सच्चा अधिकार होता है। और उस अधिकार को कोई देता नहीं। वह हमारे कर्त्तव्य को प्रकृति की देन होती है और उसी का दूसरा नाम अर्जन करना है। 'ईमानदारी से कर्त्तव्य पालन करते हुए' शब्द निकाल दिये जायँ तो अधिकार ना-सच्चा अधिकार हो जाता है। क्योंकि मेहनत तो चुराकर चीज लाने में भी कभी कभी इतनी ज्यादा हो जाती है जितनी उसके कमाने में भी न होती। चोर भी तो रातों जागता है। और हर रात उसको माल नहीं मिल जाता। जब भी कुछ उसको मिलता है वह कई रातों के जागने का फल होता है। इतना ही नहीं

उसे उस काम में कभी कभी अपनी जान जोखम में डालनी पड़ती है। और फिर भी राजा न उसकी इस मेहनत का खयाल करता है और न जान जोखम में डालने की ओर ध्यान देता है। इतनी मेहनत से चुराई हुई चीज़ को राजा उससे छीन लेता है और जिसकी होती है उसको दे देता है। वह इतना ही नहीं करता, चोर को सज़ा देता है और उससे ऐसी मेहनत कराता है जिसे करने को उसका जी नहीं चाहता। यह वह इसलिये कराता है कि चोर कर्त्तव्य को समझने लगे, ईमानदारी को जान जाय और इस तरह सच्चे और ना-सच्चे अधिकार में अन्तर करना सीख जाय। हाँ, तो अब यह पता चला कि कोरी मेहनत से किसी चीज़ पर अधिकार नहीं होता और अगर हो भी जाय तो या तो वह अधिकार अपनी जान जोखम में डालेगा या किसी दूसरे को सतायेगा या दूसरे की जान लेने पर उतारू हो जायगा। जैसे कोई डाक्टरी की कला पर कोरी मेहनत से अधिकार कर ले और उसके साथ ईमानदारी और कर्त्तव्य-पालन की पुट न दे तो नतीजा यह होगा कि वह डाक्टर लालच में पड़कर ऐसे ऐसे निकम्मे काम करने लग जायगा जिसकी वजह से लोग दुखी होंगे और एक दिन वह खुद भी आफत में फंसेगा और हो सकता है फाँसी पर भी चढ़ा दिया जाय। यही वजह थी कि भारत के ऋषि-मुनि और भारत के बड़े बूढ़े किसी को किसी विद्यापर अधिकार कराने से पहले उसको अच्छी तरह से परख लेते थे और देख लेते थे कि वह ईमानदारी के साथ कर्त्तव्य पालना जानता है या नहीं। यह दो बातें देखकर ही वे किसी को विद्या पर अधिकार कराते थे। यह बात गलत है कि वे शूद्रों का विद्या पर अधिकार नहीं कराते थे और जिसने जाबाली ऋषि की कथा पढ़ी है वह तो यह मान ही नहीं सकता कि भारत के ऋषि-मुनि ऐसा भेद-भाव करते थे। कथा यों है :

जाबाली नाम की एक नारी थी। उसे सच पर अधिकार था और इस नाते कर्त्तव्य-पालन पर भी अधिकार था। उसके बारह बरस के बेटे को विद्या पढ़ने की सूझी। उन दिनों पाठशाला में गोत्र बताना जरूरी होता था और गोत्र बिना बाप के होता नहीं। इसलिये जब वह लड़का अपनी मां से गोत्र पूछने पहुंचा तो उसकी मां ने सच सच कह दिया कि गुरुजी से कह देना कि मैंने तुम्हें घर का दासी का काम करते हुए पाया है। अगर तेरा गोत्र कुछ हो सकता है तो जाबाली के नाते जाबाल हो सकता है। इसी कर्त्तव्य-अधिकार मिले मंत्र ने गुरुजी का दिल पिघला दिया और गुरुजी को उसे अपना विद्यार्थी मानना पड़ा और यही लड़का फिर जाबाली ऋषि बन गया।

कर्त्तव्य-पालन और अधिकार

यह बात किसी दरजे तक सच है कि उन दिनों के ब्राह्मण आमतौर से ईमानदारी के साथ कर्त्तव्य-पालन करने के जन्म से ही आदी होते थे, इस वास्ते ब्राह्मणों को विद्या दी जाती थी, पर वह बात तो आज भी मौजूद है और हर देश में मौजूद है। आज ईमानदार और सब तरह से योग्य आदमी को दफ्तर में इतनी जल्दी जगह नहीं मिलती जितनी एक बी०ए० या एम० ए० को। इसकी वजह सिर्फ यही है कि आमतौर से कालेज से निकले हुए स्नातक ईमानदारी से कर्त्तव्य-पालन करने वाले निकलते हैं। यह दूसरी बात है कि आज यह बात भारत में ही नहीं, सभी जगह ढीली पड़ गई। पर यहाँ तो कहना इतना ही है कि कर्त्तव्य-पालन की कला आये बिना या कर्त्तव्य-पालन का अभ्यास हुए बिना न अधिकार कोई कराता है, न अधिकार कोई देता है, न अधिकार कोई मिलता है और न अधिकार कोई कमाया जा सकता है।

पुराणों की कथाएँ

भारत के सारे पुराण कर्त्तव्य और अधिकार की एकमेकता से पैदा हुए फलों का कथन मात्र हैं। हो सकता है कहीं कहीं उन पुराणों में ऐसी

चीज़ आगई हो जो इस कसौटी पर न कसी जा सके। तो हम अपने सुनने वालों से यही प्रार्थना करेंगे और अगर हम सलाह देने के अधिकारी हैं तो यही सलाह देंगे कि वे पुराण के उस भाग से कोई सीख न लें जो इस कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। आजकल सब जगह धींगामुश्ती से पाये अधिकार का बाज़ार गर्म है और अकर्त्तव्य ही कर्त्तव्य का जामा पहने बहुत सस्ते दामों बाज़ार में मिलता है। इसलिये हमें उसकी खरीदारी से बचना चाहिए और थोड़ीसी तकलीफ उठाकर कर्त्तव्य और अधिकार के उसी रास्ते पर आ जाना चाहिए जिसे भारत के लोग अपनाये हुए थे, आज भी कुछ कुछ अपनाये हुए हैं और जिनकी वजह से ही भारत उठा है, आज़ाद हुआ है, चमका है और चमकता हुआ रखा जा सकता है।

कर्त्तव्य आत्मानन्द है

गेहूं के बीज को आप कर्त्तव्य समझिये, गेहूं के डंठल को आप अधिकार मानिये और गेहुंओं से लदी गेहूं की बाल को आप आत्मानन्द मानिये, और अब सोचिये कि गेहूं बोकर कोई किसान भुसा मिल जाने की चर्चा करे और गेहुंओं को बिल्कुल भूल बैठे तो वह आप की नज़रों में हँसी की चीज़ होगा या नहीं? ठीक इसी तरह अगर आप कर्त्तव्य-पालन करने के बाद आत्मानंद की बात छोड़कर अधिकार-अधिकार के ही गीत गायँ तो समझदार आप पर हसेंगे या नहीं? दोस्तो, इसलिये मेरी तो यही सलाह है कि आप कर्त्तव्य किये जाइये और आत्मानन्द की गंगा में डुबकियां लगाइये। अधिकार आप के पांव छूता हुआ नज़र आयेगा।

सचाई का सिक्का

सचाई...सिक्के के कर्त्तव्य और अधिकार के दो पहलू हैं और जिसके हाथ में सचाई का सिक्का है उसी को आत्मानंद प्राप्त है।

[ऑल इण्डिया रेडिओ नागपुर से प्रसारित

: ४ :

वैश्यों का धर्म

आचार्य विनोबा

हिन्दू धर्म ने एक समाज-रचना की थी जिसमें लोगों को काम बांट दिया गया था। उसमें वैश्यों के लिए कृषि, वाणिज्य और गौ-सेवा ये तीन धर्म बताए गए हैं।

धर्म वह है जिसके लिए मनुष्य शरीर धारण करता है। धर्म सब के भले के लिए होता है। जो ऐसे धर्म को मानता है वह जरूरत पड़ने पर आवश्यक त्याग भी करता है। कुटुंब में लोग एक दूसरे के लिए त्याग करते हैं उसी से उन्हें धर्माचरण का समाधान रहता है। ऐसा न होता तो हमारी हालत जानवरों-जैसी होती। इस कुटुंब-व्यवस्था ने हमें जानवर बनने से बचा लिया। इसी प्रकार हरएक के लिए सामाजिक धर्म नियत किया गया था, जिसमें वैश्यों का धर्म कृषि, गौ-सेवा और वाणिज्य द्वारा समाज-सेवा करना बताया गया था।

किंतु वैश्यों ने कृषि और गौ-रक्षा को मुश्किल समझ कर उन्हें छोड़ दिया। बाद में यह काम ऐसे लोगों को सौंपा गया जो आवश्यक मेहनत तो कर सकते थे परंतु इस काम के योग्य शास्त्रीय ज्ञान उनके पास न था। इनका एक नया वर्ग बनाया गया जिसकी गिनती बाद में शूद्रों में होने लगी।

मैं मानता हूँ कि पुराने जमाने में वैश्य समाज के सच्चे सेवक होते थे। वे अपना पैसा, अपनी बुद्धि, सब कुछ समाज की सेवा में लगाते थे। इसीलिए उन्हें महाजन भी कहा गया है। समाज में व्यापारियों

की अच्छी प्रतिष्ठा हुए बिना तो उन्हें 'महाजन' नहीं कहा गया होगा। वे सत्य-निष्ठ और सेवा-परायण न होते तो यह पदवी उन्हें न मिलती।

लेकिन जब खेती और गो-रक्षा का धर्म उनसे छूट गया तो उनका तेज घटने लगा। फिर भी जिन लोगों ने समाज का यह काम संभाला उनमें और वैश्यों में परस्पर संबंध अच्छे रहे। परंतु मेहनत करने वाले लोग धीरे-धीरे हीन समझे जाने लगे। जब अंग्रेज व्यापारी यहां आए तो उन्होंने यह सारी परिस्थिति देखी। उन्होंने देखा कि व्यापारी लोग किसानों को नीचा मानते हैं, उनके हाथ का खाते-पीते नहीं। उनमें और व्यापारियों में प्रेमभाव नहीं है। इतनी दूर से आनेवाले अंग्रेजों के हाथ यह अच्छा मौका लग गया। उन्होंने अपना व्यापार शुरू कर दिया। जब सारा व्यापार हमारे व्यापारियों के हाथ से उनके हाथ में चला गया तो उन्होंने यहाँ अपनी सेना भी बना ली। आगे का हाल तो आप सब जानते हैं।

इस तरह दक्षता न रखने, कारीगरों को हीन मानने और चूसने के कारण व्यापारियों के हाथ में व्यापार के बजाय केवल दलाली बची रह गई।

आज व्यापारी लोग भले-बुरे उपायों से धन कमाते हैं, और कुछ दान भी करते हैं। परंतु देश में उनकी प्रतिष्ठा नहीं रही। उनके लिए अब आदर के शब्दों का प्रयोग नहीं होता। दूकानदार कुछ खरीदने के लिए आए हुए छोटे बच्चों को भी ठगने से बाज नहीं आता। फिर ऐसा राष्ट्र कैसे उन्नत रह सकता है?

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—मुनाफे की मर्यादा क्या होनी चाहिए?

उत्तर—वाणिज्य को गीता के अर्थ में अगर हम धर्म मान लेते हैं तो मुनाफे का सवाल ही नहीं उठता। किसान और आम जनता हमारी

मालिक है। और हमें मालिक की सेवा करनी है। इसलिए मजदूर या किसान जो कुछ निर्माण करता है उसके वितरण में हमें सिर्फ मेहनताना लेना है और हर वक्त यह सोचना है कि देश की संपत्ति कैसे बढ़ सकती है। आठ घंटे काम कर के मजदूर केवल एक रुपया पाए और व्यापारी एक हजार, तो यह धर्म नहीं है। धर्मयुक्त व्यापार में न मुनाफा होना चाहिए न घाटा। तराजू के पलड़ों की तरह दोनों बाजू समान होनी चाहिए। लेकिन आज तो व्यापारियों के दिल में संचय की वृत्ति ने घर कर लिया है। सच्चा श्रीमान् तो वह है जिसका धन और धान्य, जैसे तुकाराम ने कहा है, घर-घर में भरा है। जिसके जीवन को उसके इर्द-गिर्द की जनता चाहती है, वह सच्चा धनी है। जिसे लोग चाहते ही नहीं हैं वह तो भिखारी है। कबीर का वचन है :—

> पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम।
> दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम॥

नौका में पानी बढ़ जाने पर जैसे हम उसको, एक हाथ से नहीं, दोनों हाथों से बाहर फेंकते हैं, उसी तरह बढ़े हुए धन को घर के बाहर फेंक कर घर को बचाना चाहिए। यदि लेनेवाला मिल जाय तो उसका उपकार मानना चाहिए। फुटबाल की तरह धन का खेल होना चाहिए। गेंद को कोई अपने पास नहीं रखता। वह जिसके पास पहुँचती है वही उसे फेंक देता है। पैसे को इस तरह फेंकते जाइए तो समाज-शरीर में उसका प्रवाह बहता रहेगा और समाज का आरोग्य कायम रहेगा। संस्कृत में पैसे को द्रव्य कहा है। 'द्रव्य' माने बहनेवाला। अगर वह स्थिर रहा तो रुके हुए पानी की तरह उस में बदबू आने लगेगी।

प्रश्न—महात्माजी ने तो कंट्रोल उठाया था, क्या अब पुनः कंट्रोल रखने से जनता को तकलीफ नहीं होगी?

उत्तर—महात्माजी की सलाह तो ठीक ही थी, लेकिन अब परिस्थिति बदल गई है। जिस राष्ट्र में चरित्र-शीलता नहीं है उसमें कोई योजना काम नहीं कर सकती। कंट्रोल उठाया तो चीजों के दाम बढ़ गए। नहीं उठाते तो काला-बाजार होता। मैंने इसका हल बताया है कि लगान में अनाज वसूल किया जाय। मैं मानता हूं कि इस से हमारी समस्या काफी सुलझ सकती है। रहा कपड़े के बारे में, उसका मुख्य उपाय तो चरखा ही है। साथ-साथ आज जो मिलें हैं उन्हें देश की मिल्कियत करना चाहिए, समाजवादी तो इसकी मांग कर ही रहे हैं, किंतु मुझे भी परमेश्वर को साक्षी रखकर प्रार्थना-सभा में दुःख के साथ कहना पड़ा कि मिल-मालिकों ने देश को दगा दिया है। देश की मिल्कियत होने के बावजूद भी देहात के लोगों को मिलों पर निर्भर नहीं होना चाहिए, हाथ से कपड़ा बना लेना चाहिए। उनको इस बारे में तालीम देने आदि का इंतजाम सरकार को करना चाहिए। अगर अन्न और वस्त्र इन दो चीजों का हम इस तरह प्रबंध कर लेते हैं तो और चीजों की विशेष चिंता नहीं रहती।

इंदौर

१८-८-४८

: ५ :

संस्कारों का पागलपन

राजमल ललवाणी

दर्शन या काव्य की भाषा में जगत मुसाफिरखाना या सराय भले ही हो, लेकिन मेरे लेखे तो दुनिया एक पागलखाना ही है। और यह ऐसा पागलखाना है जिसमें पूज्य और पुजारी, मालिक और सेवक, पति और पत्नी, रोगी और वैद्य, अपराधी और न्यायाधीश, चोर और सिपाही, सभी पागल हैं।

'दुनिया कहती मुझको पागल,
मैं कहता दुनिया को पागल'

यह कोई मूर्ख की आवाज़ तो है नहीं, जिसकी उपेक्षा या घृणा की जाय। यह तो वास्तविक सत्य है—ऐसा सत्य जो पत्थर की रेखा से भी अमिट और स्थायी है। मैं जिसे पागल कहता हूँ, वह मुझे और साथ ही मेरे परिवार को भी पागल कहता है। अब अगर मैं झूठ नहीं बोलता हूँ तो वह कैसे सत्य नहीं बोलता होगा?

पागलखाने में रहने वाला ही पागल होता है, ऐसी बात नहीं है-कभी कभी तो समझने में ही पागलपन आ जाता है।

बस, अब आप समझ गए होंगे कि पागलपन समझ का होता है। समझ एकतर्फा भी हो सकती है, लेकिन प्रायः वह दुहरी, तिहरी और सामूहिक ही होती है। संस्कार और परम्परा से बंधी आदतों के पीछे जो समझ का रवैया या प्रवृत्ति होती है, वह पागलपन सामूहिक या पारिवारिक होता है। वैयक्तिक पागलपन वह है जो आदतों पर निर्भर रहता है।

इस तरह वैचारिक, धार्मिक, राजनैतिक पागलपन भी हो सकते हैं। पागलपन जान बूझकर थोड़े ही बढ़ता या मजबूत होता है। खुद को यदि पता लग जाय तो वह पागलपन थोड़े ही रह जाएगा। यह तो दूसरों को ही दीखता है, और वहीं से उसे पनपने का अवसर मिलता है। आज मैं भी ऐसा ही एक पागलपन कर रहा हूँ। पागलों की दुनिया का मैं एक प्राणी, यदि बहक नहीं जाऊं तो ही विशेषता। मैं अक्सर बहक जाया करता हूँ, यह मेरी जागतिक स्थिति है।

इन पागलपन की बातों को मैं कैसी मानता हूँ, यह पाठकों का नहीं, मेरे जानने का विषय है। यहां कुछ उदाहरण देता हूं। पाठक उन्हें निर्लिप्त होकर पढ़ें, विचार करें। कृष्ण भगवान का उपदेश है कि निष्काम कर्म करो। आप रोयें या हंसें तो इसकी जिम्मेदारी द्रष्टव्य पागलों या पागलों के दर्शक की नहीं, निरीक्षकों की है। मैं तो अपना काम करूँगा, और?–छुट्टी। और क्या?

यह एक पागलखाना है। इसे पागलों का अजायब-घर ही कह लीजिए। यहां सैकड़ों प्रकार के रोगी रहते हैं।

शायद इसे आप जानते हैं कि पागलों का रोग शारीरिक नहीं, प्रायः मानसिक होता है। बेचारों का रोग तो होता है मानसिक, पीड़ा दी जाती है उन्हें शारीरिक। पानी जड़ को नहीं, पत्तों को पिलाया जाता है।

तो, उस पागलखाने का सुपरिण्टेण्डेण्ट एक समझदार आदमी था। उसकी २०–२१ वर्ष की पढ़ी–लिखी लड़की थी। उसने अपने पिता से एक दिन कहा :

"पिताजी, मैं पागलखाना देखना चाहती हूं।"

"क्यों, क्या करोगी देखकर?"

"पागल कैसे होते हैं, जानना चाहती हूं।"

पिता की अनुमति मिल गई। दूसरे दिन वह पागलखाने में जाकर पागलों का निरीक्षण करने लगी। पिता साथ में थे। किसी-किसी पागल का इतिहास यानी पागल बनने के कारण को जानने की स्वाभाविक उत्कण्ठा को वह कैसे दबाती। लड़की के संकेत चलते और उत्तर में पिता की जबान। वे कहते चले जा रहे थे मानों मारवाड़ का कोई चारण अपने यजमान के पुरखाओं की वंशावली सुना रहा हो। वे बिना विश्राम लिए कहते चले चल रहे थे—यह अपनी स्त्री को मारकर पागल हो गया है, यह धनिक से निर्धन बन जाने से ऐसा हो गया है, किसी का पिता मर गया है, किसी का पुत्र मर गया है, कोई मुकद्दमे में हार गया है। किसी को हँसने, रोने और किसी को कोई बात गुनगुनाने की आदत लग गई है। इतने में उस लड़की की नजर २५–२६ वर्ष के एक युवक पर पड़ी। वह पढ़ा-लिखा, सुन्दर और स्वस्थ था।

लड़की ने उसे अपने नजदीक बुलाया। उसने पास पहुंचकर नम्रता पूर्वक नमस्कार किया। उसके पास एक कम्बल थी। वहीं पेड़ के नीचे उसने कम्बल बिछाकर उस लड़की से बैठने को कहा।

लड़की के बैठनेपर वह भी विनय पूर्वक बैठ गया। पारस्परिक कुशल प्रश्न के उपरांत उनकी चर्चा चली।

"आपका शिक्षण कहां तक हुआ है ?"

"मैं संस्कृत में एम० ए० हूँ।"

"आप यहाँ कैसे आ गए ?"

"यही तो मैं जानना चाहता हूँ कि यहाँ कैसे लाया गया। मैं यह इतनी बातें वेद, गीता, उपनिषद, राजनीति, साहित्य के बारे में आप से कर रहा हूँ। आप ही बताइए बहन, क्या मैं पागल हूँ ?"

"क्या आप को कोई ऐसी मानसिक चोट पहुँची है जिसका आप पर प्रभाव पड़ा है?"

"नहीं, ऐसी कोई घटना नहीं हुई। मैंने आज तक किसी को सताया तक नहीं है। मैं जब आप के पिताजी से पूछता हूं तो कह देते हैं कि तुम पागल हो। मैं पागल हूं—बड़े अचरज की बात है!

"फिर भी कुछ बात तो अवश्य है जिससे आपको ऐसा माना गया।"

"हाँ, एक बात हो सकती है। मुझे यह विश्वास है कि मेरा शरीर काँच का है। (कलाई पर अंगुलियाँ ठोंककर) यह देखो टन्नन् टन्नन् कांच ही तो है न! जरा-सा धक्का लगते ही टूट-फूट जाएगा!"

"तो क्या शरीर काँच का है?"

"माफ करें बहनजी, आपने भारतीय आध्यात्मिक विचार-धारा का अध्ययन नहीं किया, मालूम होता है! कबीरदासने भी इसे कांच की शीशी बताया है! क्या यह सच नहीं है! शरीर रूपी कांच की शीशी छिनक (क्षणेक) में फूट जाएगी!"

सुपरिण्टेंडट की लड़की समझ गई कि इस युवक का पागलपन क्या है। घर लौटने पर उसने पिता से कहा कि वह युवक उसके सपुर्द कर दिया जाय।

पिता भी नवीन विचार के थे। सोचा कि दोनों शिक्षित, सुंदर, स्वस्थ हैं। एक-दूसरे के प्रति आकर्षण बढ़कर यदि पागलपन दूर हो जाय तो क्या आपत्ति है। दोनों का वैवाहिक सम्बध करने में भी कोई आपत्ति नहीं है। एक धर्म, जाति के भी हैं। अनुमति दे दी गई।

लेकिन संध्या को एक ऐसी दुर्घटना हुई कि बेचारे का हार्ट फेल हो गया। वार्डर ने आग्रहपूर्वक भीतर चलने को कहा। वह कहता

था, मैं पागल नहीं हूं। धक्का दिया गया जिससे वह गिर गया और उसके विश्वास के अनुसार शरीर रूपी कांच फूट गया! उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

यह विचारों के पागलपन का एक उदाहरण है।

कुछ लोग होते हैं, जो अपने आप से बातें करते हैं, बड़बड़ाते या गुनगुनाते रहते हैं; किसी मूर्ति के आगे स्तुति-प्रार्थना करते रहते हैं, सिर झुकाते हैं, कई औंधे लटक जाते हैं, कई प्रकार के आसन करते रहते हैं। शरीर पर भभूत रमानेवाले, कानों को फाड़नेवाले भिन्न-भिन्न वेश धारण करनेवाले, मुण्डन करवानेवाले, जटा बढ़ानेवाले, फलाहारी, गांजा-चिलम का दम लगानेवाले, भांग पीनेवाले भी कम नहीं हैं। लोग मानते हैं कि ये ज्ञानियों के, साधुओं के और भक्तों के साधन हैं, जो अपनी धुन में रहते हैं। लेकिन मैं तो इसे धार्मिक पागलपन ही कहता हूं।

किसी शिशु को देखकर उसके साथ विकृत चेष्टाएं करना, मुंह बनाना, गुदगुदी करना, तोतली भाषा में पुकारना, किसी स्त्री को देखकर कुचेष्टाएं करना, अपनी स्त्री से एकान्त में बेतुकी बातें करना भी पागलपन ही है। इसे मैं प्यार का पागलपन कहता हूँ। इसी तरह कांच में मुंह देखना, मुंह बनाना, जीभ निकालना, आंखें मटकाना, मित्रों के बीच हाहा—हूहू कर के हंसना, सुना—अनसुना करना, किसी को हंसी-विनोद में बेवकूफ बनाना, मजाक करना भी पागलपन है। इस से जब सन्तोष नहीं होता तो शराब पीना, शराबी-सी नकल करना, झूमना भी किया जाता है। इसे मैं गुदगुदा पागलपन कहता हूँ। इस प्यार और मजाक को पागलपन नहीं कहा जाता, बल्कि एक प्रकार की 'अच्छाई' समझा जाता है।

मेरे यहाँ किसी समय एक तिलकधारी ब्राह्मण आए। थोड़ी ही देर में एक मुसलमान भाई आए और जाजमपर बैठ गए। अब क्या था,

ब्राह्मण देवता का रोम-रोम अपवित्र हो उठा। अपने लड़के को नदीपर धोती लाने को कहा। वे नदी पर गए और वस्त्रों समेत कूद पड़े। ऐसी ही एक घटना और है।

एक आदमी अपनी गाड़ी में पानी के दो पीपे भरकर ले जा रहा था। दुर्भाग्य की बात कि बैल की पूंछ हिली और एक हरिजन का स्पर्श कर गई। अब क्या पानी पवित्र रह सकता था? पानी फेंककर बेचारा घर लौट गया।

एक लड़का किसी हिन्दू हॉटल में चाय पीने गया। चाय पी। लेकिन पास ही खड़े किसी ने एक व्यक्ति से कहा यह तो मुसलमान लड़का है। अब क्या था। जोर चला कप बशीपर। बेचारी इतनी जोर से फेंकी गई कि चूर-चूर हो गई।

इसे मैं क्रोध का पागलपन कहता हूँ। कर्म करे कोऊ और ही, फल पावे कोऊ और—की सचाई ऊपर की घटनाओं मे देखी जा सकती है। यानी कुम्हार कुम्हारी से न जीतने पर गधे के कान ऐंठता है।

कस्तूरबा स्मारक फंड के कार्य निमित्त हम कुछ लोग एक सेठ के यहाँ पहुँचे। किसी को खांसी आगई। खांसी आई तो रुके कैसे? लेकिन सेठजी आगबबूला हो गए। बोले, यह कोई दवाखाना है जो खां-खां मचा दी। उसे निकाल कर ही सेठजी ने दम लिया। सेठजी बोले 'पागल कहीं का'। पर हमें सेठजी के 'पागलपन' पर हँसी आ रही थी।

एक भले घर की स्त्रीने बुखार के कारण अपने नौकर से पैर दबाए। इतने में पति देवता आ पहुँचे। अब क्या था। परम्परा का संदेह प्रकट रूपमें उबल पड़ा। बड़बड़ाने लगे, पर-पुरुष का स्पर्श! बेचारी गालियां सुनकर भी कुछ न बोली। ऐसे ही अनेक प्रकार के संदेह जीवन में प्रवेश कर जाते हैं जिनसे बहुत बार हानियां उठानी पड़ती हैं।

सच तो यह है कि जिसे हम बहुत बार पागलपन कह दिया करते हैं, वह मनुष्य के भीतर छिपे रहने वाले दोष होते हैं। ये दोष ज्ञान और अज्ञान दोनों से पैदा होते हैं। ज्ञान से पैदा होने वाले दोष मज़ाक बन जाते हैं और अज्ञान के कटु या गंभीर। लेकिन धीरे धीरे आदमी की वे आदतें बन जाती हैं। ऐसा होने में संस्कार, लापरवाही शिक्षा-दीक्षा, प्रवृत्ति और घटना का विशेष हाथ रहता है!

अरे भाई, पागलों की इस दुनिया में पागल न दीखें तो ही अचरज। मैं पागल हूँ, आप पागल हैं, सारी दुनिया पागल है। पागलपन में ही सबका जन्म है, जीवन है और है मरण। खुशी इस बात की है कि यहां कोई निर्दोष नहीं है और यों हम सब चोर-चोर मौसेरे भाई की तरह मजे में खाते-पीते, लड़ते-झगड़ते, और पांव पसारकर फिर पागलखाने की शरण में कूच कर जाते हैं। यहां संसार से चिपटने वाला भी पागल है, मुक्ति का राही भी उसी विशेषण से सम्बोधित होता है। जो हो, यह पागलपन अनादि तो है ही, अनन्त भले ही न हो।

: ६ :

सार्वजनिक कार्य और धन

रिषभदास रांका

एक आशंका

'संस्थाएँ अपरिग्रही बनें' की जो विचारधारा प्रकट की जा रही है उस के सम्बन्ध में कुछ विचारकों और कार्यकर्त्ताओं का खयाल है कि यह विचारधारा सामाजिक कार्यों के लिए बाधक हो सकती है। सम्भव है कि बहुत कुछ हानि भी उठानी पड़े। उनका कहना है कि "एक तो दान देनेवालों की पहले ही समाज में कमी है और जो देनेवाले हैं वे भी आवश्यक और पर्याप्त तो नहीं ही देते। समाज के कई आवश्यक कार्य ऐसे हैं जो धन के अभाव में रुके पड़े हैं या बराबर नहीं चल रहे हैं। ऐसी स्थिति में अगर दान देनेवालों को संस्थाओं के अपरिग्रहीकरण की बात सुनाई गई तो सम्भव है कि उद्देश्य का दुरुपयोग कर वे दान देना ही बन्द कर दें।"

यह बात समाज के एक अनुभवी नेताने हमारे सामने रखी है। यह एक विचारणीय विषय है और इसपर विचार होना आवश्यक है। गुरुजनों से विचार-विमर्श करनेपर जिस निर्णयपर हम पहुँचे हैं उसे विचार के लिए समाज के सन्मुख उपस्थित कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

दान लेने के तरीके

इस से तो शायद सभी सहमत होंगे कि आजकल फण्ड एकत्रित करने या चन्दा मांगने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। चन्दा मांगनेवाला किसी एक कार्य को अपना ध्येय मानता है और उसकी आवश्यकता इन

शब्दों में प्रकट करता है मानों उसके बिना समाज की गाड़ी चल नहीं सकती, दूसरे कार्य तो गौण हैं। हम यह नहीं कहते कि सभी कार्य अनुपयोगी होते हैं, किन्तु देखा यह गया है कि अधिकांश कार्य कार्यकर्त्ताओं के बुद्धि-विलास को ही प्रकट करते हैं। वे कार्य उनके दिमाग की उपज होते हैं। हम यह नहीं कहना चाहते कि जिन कार्यों का समाज के लिए उपयोग है उनके लिए धन दिया ही न जाय। हमारा कहना तो यह है कि दान देने और धन एकत्रित करने के जो तरीके प्रयुक्त किए जा रहे हैं उन में सुधार होना चाहिए। देनेवालों और लेनेवालों को आपस में विवेक से काम लेना चाहिए। यश और डर की भावना से दिया हुआ दान, और लोभ और छल से लिया जानेवाला दान विवेक और सौजन्य-शून्य होने से किसी तरह फलदायक नहीं होता। इस तरह दोनों ओर से जब मानसिक और भौतिक स्वार्थ का आश्रय लेकर समाज के शुभ कार्य करने का आश्वासन दिया जाता है तब ऐसा लगता है कि इसके मूल में धोखा देने और नाम कमाने की लालसा और स्वार्थ समाया हुआ है। बहुत-से कार्यकर्त्ता जिन धनवानों से धन एकत्र करते हैं उनके प्रति कोई आदर-भाव नहीं रखते। धन हाथ में आने के बाद वे धनिकों के प्रति एक प्रकार का तिरस्कार ही व्यक्त करते हैं। वे ऐसा भी कहते पाए जाते हैं कि "अच्छा बुद्धू बनाया सेठ को, थोड़ीसी खुशामद कर दी, गुणगान कर दिया, सभा-मंचपर आदर-सन्मान कर दिया, एकाध मानपत्र दे दिया और चित्र छाप दिया तो इस से अपना बिगड़ क्या गया। उस से तो रुपए ऐंठ ही लिए।" इतना कहने पर भी वह कार्यकर्त्ता या कार्यकर्त्ताओं के समूह वाली संस्था यह मानने को तैयार नहीं होती कि उसका उद्देश्य दुष्ट है या वह समाज का अच्छा कार्य नहीं करना चाहती। अपनी सफाई तो यह कहकर दे दी जाती है कि क्या किया जाय, सेठजी की गांठ से पैसा छूटता ही नहीं, इसलिए किसी तरह निकालना तो आवश्यक था ही।

दान देने के तरीके

दूसरी ओर दान दे चुकने के बाद सेठजी भी कुछ ऐसा-सा ही कहते पाए जाते हैं कि "क्या करें भाई, अब कोई गले ही पड़ जाता है तो कुछ दिए बिना पिण्ड ही नहीं छूटता। अगर नहीं देते हैं तो चारों तरफ बद-नामी का ढिंढोरा पीटते फिरते हैं। इसलिए कुछ न कुछ देना ही पड़ता है।" फिर कुछ यह भी कहते पाए जाते हैं कि "भाई, अपने बाप-दादों की स्मृति में अपने समाज और संस्कृति की रक्षा के लिए कुछ न कुछ करना कर्तव्य हो जाता है। अपने को तो व्यापार-धंधे से ही फुरसत नहीं मिलती, इसलिए बेचारे जो कार्यकर्त्ता कुछ काम करते हैं उन्हें मदद देनी ही चाहिए। और इस में अपना नुकसान ही क्या है। नेतागिरी मिलती है, समाज में नाम होता है, पदवियाँ मिलती हैं, अखबारों में चित्र छपते हैं। क्या यह कम महत्त्व की बात है? थोड़ासा देकर इस नाम और कीर्ति को कौन छोड़ेगा?"

मूल बात दूर है

यह है हमारे समाज की हालत। समाज में भलाई का काम, सेवा का काम कितना होता है, कहाँ होता है और क्यों होता है इसकी चिन्ता किसी को नहीं। संस्था और कार्यकर्त्ता इसलिए खुश होते हैं कि उन्हें धन मिल जाता है और धनवान इसलिए फूलकर कुप्पा होता है कि वह अपने नाम को चारों ओर बिखरा हुआ देखता है। लेकिन यह दुख की बात है। इस तरह समाज-सेवा हजारों वर्षों में भी असम्भव है।

कर्तव्य

दान समझ-बूझ कर देना चाहिये और यह समझकर देना चाहिए कि धन यों भी स्थायी नहीं रहनेवाला है। जो कुछ पास में है वह समाज के लिए है, समाज का है और समाज से प्राप्त किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति पर समाज के अनन्त उपकार हैं। उन उपकारों का ऋण चुकाने के लिए इस धन का उपयोग होना ही चाहिए। लेनेवालों को भी छल का आश्रय नहीं लेना चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि वे समाज की सेवा करने जा रहे हैं। असत्य और छल से उनकी प्रतिष्ठा बढ़ नहीं सकती। मुँह पर दिखावटी स्तुति, खुशामद या आदर व्यक्त कर धन अवश्य प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन तभी तक जबतक धनिक बे-समझ अथवा नाम-प्रिय रहते हैं। यह समझना व्यर्थ है कि सामनेवाला हमारे मनोभावों को नहीं सोच पाता। अगर दान-दाताओं को 'बुद्धू' समझा जाता है तो लेनेवालों को भी 'टुकड़-खोर' या 'भिखारी' से कम नहीं माना जाता। इस दोनों ओर की समझ में—और यह समझ स्वार्थ मूलक होती है—प्रायः ऊँट और गधे की आपसी-प्रशंसा ही दिखाई देती है। इसलिए कार्यकर्त्ताओं का कर्तव्य है कि वे आवश्यक कार्यों के लिए ही दान ग्रहण करें और जो कुछ ग्रहण करें उसे आदर-पूर्वक ग्रहण करें। और धनिकों का कर्तव्य है कि वे समझ-बूझकर समर्पण की भावना से उपयुक्त कार्यों के लिए योग्य कार्यकर्त्ताओं को ही आत्म-भाव से दें। न धनिकों को बुद्धू बनना चाहिए न कार्यकर्त्ताओं को भिखारी या टुकड़-खोर।

आवश्यक कार्य

अब प्रश्न यह उठता है कि आवश्यक कार्य कौनसे हो सकते हैं? गम्भीरता पूर्वक विचार करने के पश्चात् ऐसा लगा कि प्रत्येक सुप्रवृत्ति या भलाई का काम अनावश्यक तो नहीं ही है। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि व्यक्ति या समूह की रुचि, शक्ति, बुद्धि और क्षेत्र की न्यूनाधिकता के कारण कार्यों में भिन्नता दिखाई दे। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन में धन की आवश्यकता नहीं होती, परस्पर सहयोग और सहानुभूति से ही ऐसे कार्य सम्पन्न किए जा सकते हैं। हाँ, कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो बिना धन के पूर्ण नहीं किए जा सकते। यह कार्य बहुत सीमित हैं। हमें लगता है कि इन्हीं कार्यों में धन की आवश्यकता होती है :

१. शिक्षण सम्बन्धी संस्थाएँ; जैसे छात्रालय, विद्यालय, छात्रवृत्ति-प्रदात्री संस्थाएँ, और महाविद्यालय आदि ।

२. औषधालय और आरोग्य-भवन आदि ।

३. आकस्मिक संकटकालीन सहायता प्रदान करनेवाली प्रवृत्तियाँ जैसे बाढ़, भूकम्प, दुर्घटनाएँ आदि ।

४. पुस्तकालय, वाचनालय आदि ।

५. यात्रियों और प्रवासियों की सुविधा के लिए सड़कोंपर बनाई जानेवाली धर्मशालाएँ, कुएँ आदि ।

६. अथवा ऐसे ही वे कार्य जिनसे समाज को सीधी सहायता पहुँचती हो ।

यह काम ऐसे हैं कि बिना धन क हो नहीं सकते । लेकिन स्थान, आवश्यकता, समय आदि का खयाल रखे बिना केवल नाम और यश के लिए कहीं भी कुछ कर देने से कोई लाभ नहीं । इन पवित्र कामों के लिए भी कुछ लोग सद्भावनापूर्वक निरपेक्ष दृष्टि से धन देना पसन्द नहीं करते । इन चीजों में भी वे नाम और यश का रोड़ा अटका देते हैं । लेकिन हमारा खयाल है कि ऐसे कामों के लिए किसी तरह की अपेक्षा या आसक्ति रखे बिना ही धन दिया जाना चाहिए और कार्यकर्त्ताओं को उसकी चिन्ता करने या चंदा एकत्र करने में अपनी शक्ति खर्च करने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए ।

बिना धन के कार्य

साम्प्रदायिक झगड़े, मुकद्दमे, अधिवेशनों की शान और दिखावे, पत्रव्यवहार, समाचार-पत्रों के प्रकाशन, कार्यालय के खर्च और संस्कृति के नाम पर लोगों की भावनाएँ उभाड़कर तार, शिष्ट मण्डल आदि में होनेवाला

खर्च इन और ऐसे सब कार्यों के लिए हम समझते हैं कि समाज से मांगने या चंदा बसूल करने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। इन कार्यों की ओट में मनुष्य अधिकतर अपनी प्रसिद्धि का ध्यान रखता है और नेता बनने की लालसा ही रहती है। हमारा निश्चित मत है कि ये काम सामाजिक जीवन के सुख-दुखों से सम्बन्धित नहीं होते और इनकी आवश्यकता वे ही बताते हैं जो जीवन में या तो खा-पीकर सुखी होते हैं या जिनके पास कोई काम नहीं होता। ऐसे लोग बुद्धि के घोड़े पर बैठ कर कल्पना-लोक की सैर किया करते हैं। आदमी जमीन पर चलनेवाला प्राणी है। श्रम उसका जीवन-धर्म है। इसलिए पृथ्वी में से ही श्रमपूर्वक उसे जीवन-तत्त्व प्राप्त करना चाहिए, यही उसका सच्चा कार्य हो सकता है। हम समझते हैं सच्चे कार्य के लिए धन की कमी किसी को नहीं पड़ती। श्रम स्वयं धन है।

ध्रुवकोष और ब्याज

हमें एक बात की ओर और निर्देश करना है। वह यह कि ध्रुव-कोषों के आधार पर कार्य करना हितकर नहीं होता। ध्रुव-कोष तथा बड़ी-बड़ी रकमें इकट्ठा करने के पीछे स्वार्थ, अहंकार तथा बड़प्पन रहता है और कुछ समय बीतने के बाद झगड़े निर्माण हो जाते हैं जिससे समाज के कार्य को हानि पहुँचती है। पहले धन पास में नहीं होता तो उसके लिए पुकार मचाई जाती है और एकत्रित हो जाने के पश्चात् यह चिन्ता खड़ी हो जाती है कि उसे कहाँ जमा किया जाय। अनेकों बार ऐसा हुआ है कि जिसके यहाँ धन जमा हुआ वह उसीका हो गया या नहीं देने के अनेक बहाने बनाए गए। धन जमा करने के पीछे कार्यकर्त्ताओं की ब्याज से काम चलाने की मंशा होती है। वे यह सोच लेते हैं कि संस्था को सुव्यवस्थित और स्थायी बनाने के लिए धन की चिन्ता से मुक्त रहने की आवश्यकता है। लेकिन यह विचार-धारा बहुत गलत है, हानिकर है। सब से बड़ा

नुकसान यह होता है कि संस्था की सजीवता नष्ट हो जाती है। वह निर्जीव मशीन बन जाती है और कार्यकर्त्ताओं का पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है। उनमें वह स्वाभिमान, वह कर्तव्य-शीलता, संघर्षों का मुकाबला करने का वह साहस नहीं रहता जो नित चुग्गा चुगने वाले पक्षियों में रहता है, उस साधु में रहता है जो रोज अपना दाना-पानी जुटाता है, उस मजदूर में रहता है जो रोज पसीना टपकाता है, उस किसान में रहता है जो रोज हल चलाता है। ब्याज धन का मित्र भले ही हो, जीवन का शत्रु है। इसलिए ब्याज की अपेक्षा श्रम पर कार्य करने की निष्ठा हम में होनी चाहिए।

अधिक धन अनावश्यक है

लेकिन धन के बिना अगर काम नहीं ही चलता है तो वह इतना ही प्राप्त करना चाहिए जितना किसी कार्य के लिए आवश्यक हो। एकबार की अपेक्षा कोई दो बार का भोजन कर ले तो वह पहले के कई दिनों का भोजन भी दूसरे दिन खो देगा। और भविष्य में भी शायद दो-चार दिन भूखा रहना पड़े। यही हाल संस्थाओं के धन का भी है। जो कार्य आवश्यक रूप में हमारे सामने हो और समाज उसके लिए तैयार हो तो ही धन एकत्र करना चाहिए। समाज की चिंता अपने सिर पर लेकर निराश और उद्विग्न होना व्यर्थ है।

सारांश

यह सब लिखने का सारांश पाँच पंक्तियों में आ सकता है :

१. जो कार्य धन के बिना नहीं चलते उनके लिये उतना ही धन लिया जाय जो उस कार्य में खर्च कर दिया जा सके।

२. ध्रुव-कोष जमा कर के ब्याज से संस्था चलाने का मोह और स्वार्थ छोड़ दिया जाय।

३. जिन से धन लिया जाय उनके प्रति आदर और सद्भाव रखा जाय। किसी की अनुचित प्रशंसा न की जाय।

४. धन लेनेवाले सचाई और ईमानदारी से ही बिना किसी स्वार्थ और छल के धन प्राप्त करने का प्रयत्न करें। उनका कार्य ऐसा हो कि वे अपना विश्वास जनता में बना रख सकें।

५. आवश्यक कार्य वे ही हो सकते हैं जिनसे सामान्य रूप से मनुष्य-जीवन को सुखी बनाने में सहायता मिल सकती हो।

आशा है, इस विषयपर समाज का विचारक-वर्ग, धनिक-वर्ग और कार्यकर्ता-वर्ग गम्भीरता से विचार करने की कृपा करेगा। धर्म और संस्कृति की रक्षा के नाम पर जो नारे आज लगाए जाते हैं उनका जीवन से कितना सम्बन्ध है, और वे कितने उपयोगी हो सकते हैं, इसपर भी विचार किया जाय।

: ७ :

निष्क्रिय वैराग्य

जमनालाल जैन

वैराग्य और ममता

भारतीय धर्मों में वैराग्य को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। वैराग्य का अर्थ राग-विहीनता किया जाता है। राग को ममता का पर्यायवाची कहा गया है। धर्माचार्यों ने कहा है कि ममता आदमी को गिराती और फँसाती है। ममता में फँसा और उलझा प्राणी समता की व्यापकता को ग्रहण नहीं कर पाता। जो समता को ग्रहण नहीं कर पाता, विषमता उसका गला दबाए रहती है। कहा जाता है कि ममता और विषमता का जोड़ा है। दोनों के नष्ट होनेपर ही नौका समता के किनारे लग सकती है।

प्रेम

पर, प्रेम भी एक शब्द है। उसके महत्त्व को भी पारस्परिक व्यवहार में स्वीकार किया गया है। ममता प्रेम के अतिरिक्त क्या है जो सब के प्रति होनी चाहिए ? अगर पारस्परिक प्रेम नष्ट हो जाय तो एक तो द्वेष प्रत्यक्ष होगा, या हो सकता है कि मनुष्य जीवित भी न रह सके।

शिशु की ममता

एक नवजात शिशु है। वह क्षण-प्रति-क्षण बढ़ता है। माता-पिता और पास-पड़ोसियों को अपनी स्वाभाविक चेष्टाओं द्वारा आनन्द प्रदान करता है। उसकी क्रियाओं को देख सब मुग्ध हो जाते हैं। उसे गोदी में लिया जाता है, उसे पुचकारा जाता है, उसकी बलैयाँ ली जाती हैं। यह सब ममता के बिना नहीं हो पाता। ममता अगर नहीं होगी तो प्रेम को

सार्थक करनेवाली कोई भावना नहीं है जो हमें बच्चों की ओर आकर्षित कर सके। यह ममता अस्वाभाविक नहीं है। बच्चा किलकारता है तो हम भी उसके साथ हो लेते हैं। वह रोने लगता है तो उसे विविध आकर्षणों द्वारा चुप करने और खुश करने के प्रयत्न किए जाते हैं। यह अगर नहीं किया जाता है तो कहना चाहिए और कहा ही जाता है कि वह आदमी रूखा या कठोर है जो बच्चे के प्रति भी स्नेह या ममता प्रकट नहीं करता। सीधे शब्दों में वह हृदय-हीन समझा जाता है।

ममता-मय साधु

महाव्रती साधु ऐसी स्वाभाविक ममता से दूर रहकर साधना नहीं कर सकता। उसे भी समाज में आकर या उसमें रहकर उपदेश करना ही होता है। जब कोई श्रावक किसी नन्हें से बालक को अपनी गोदी में लेकर मुनि के समीप पहुँचता है और विनय पूर्वक कहता है : "महाराज! यह अपना ही बालक है" तब उसके सुन्दर मुखड़े पर महाराज की दृष्टि थम जाती है और वे उस पर प्रसन्न हो आशीर्वाद के रूप में हाथ या पीछी फेर देते हैं। श्रावक को इससे सन्तोष होता है। वह समझने लगता है कि अब मेरे बच्चे का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। जिसे साधु का आशीर्वाद मिल गया, बुराइयाँ उसका पीछा नहीं कर सकतीं। मुझे भी बचपन में एक साधु (ऐलकजी) ने पीछी और आसन दिया था। उमर मेरी कोई पाँच साल की थी। उस समय मेरा धर्म तो ग्रहण करने का ही था। उसके उपयोग और महत्त्व को समझने की जरूरत नहीं थी। दो-चार साल तो ये चीजें रखी रहीं, लेकिन पिताजी ने घर बदला तो वे खो गईं। मेरे लिए उनका रखा रहना या खो जाना एक-सा ही था। पर माँ को ऐसा लगा कि हमारा कुछ अनिष्ट होनेवाला है।

आवश्यक ममता

तो, मैं कह रहा था कि ममता साधु के लिए भी आवश्यक है। उसे कोई कृपा दृष्टि कहे, आशीर्वाद कहे, प्रेम कहे या और कुछ कहे। जो

साधु ऐसा नहीं करता उसका या किसी साधु-समूह का सामाजिक आदर कम हुए बिना न रहेगा। इस से मेरा मतलब यह है कि उनके वैराग्य यानी शुष्क असामाजिकता पर जनता की श्रद्धा तो रहेगी ही, लेकिन भक्ति और निकटता का सम्बन्ध टूटता जाएगा।

अपेक्षित आशीर्वाद

देखा गया है कि बहुत-से स्त्री और पुरुष देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति और पूजा इसलिए करते हैं कि वे समझते हैं कि ऐसा करने से उन्हें धन की प्राप्ति होगी, पुण्य का संचय होगा, समाज में प्रतिष्ठा होगी, सन्तान का लाभ होगा आदि। इस लाभ और प्राप्ति की न्यूनाधिकता पर ही भक्ति की न्यूनाधिकता अवलम्बित रहती है। यह अपेक्षा सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे कैसी ही अनुचित हो, पर जो विरागी है उसे इन अपेक्षा करनेवालों को आशास्पद या लाभात्मक आशीर्वाद देना ही पड़ता है।

साधुत्व और समस्याएँ

व्यक्ति है कि समाज है और जहाँ समाज है वहाँ संघर्ष और संगटन भी है। कुछ धार्मिक, कुछ आर्थिक और कुछ सामाजिक यों कुछ-न-कुछ समस्याएँ समाज और जीवन में उठती ही रहती हैं और उनका निर्णय पक्षपात, अज्ञान, स्वार्थ और मोह-द्वेष के कारण सही-सही नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में स्वभावतः समस्याओं को सुलझाने के लिए समाज मुनि की ओर आकर्षित होती है। पर, उन समस्याओं और संघर्षों का निपटारा मुनि शायद ही करते हैं। वे कहते हैं : "इन सामाजिक झगड़ों या बखेड़ों स हमारा क्या सम्बन्ध ? हमें तो अपना आत्म-कल्याण करना है। अपने झगड़े तुम आप जानो।" कुछ इस उत्तर को वैराग्य की पराकाष्ठा समझ उपेक्षा कर देते हैं और कुछ टीका-टिप्पणी भी करते हैं। इस तरह मालूम होता है कि समाज में साधु-वृत्ति के विषय में दो विचार-

धाराएँ हैं : एक, उन्हें समाज से बिलकुल भिन्न समझनेवाले लोग हैं और दूसरे उनपर समाज-निर्माण का उत्तरदायित्व लादते हैं। अपने अपने दृष्टिकोण से दोनों सही हैं, ऐसा मैं मान लेता हूँ। लेकिन मैं चाहूँगा कि कोई मुझे बताए कि अगर धर्म विश्व-प्रेम सिखाता है और समभाव बताता है तो समाज से अलग रहने में, उसकी समस्याओं को न छूने में कौनसी साधना होती है ? और जो समस्याओं को समझ नहीं पाता, जो निर्णय देने में असमर्थ है, उसपर केवल मुनित्व के कारण ही समाज-निर्माण का उत्तरदायित्व लाद देना कहाँ तक उचित है ?

सांसारिकता का त्याग

कहते हैं कि जो वीतरागी हैं वे संसार से परे रहते हैं यानी कि वे संसार से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं। तीन लोक की व्याख्या करते हुए दर्शन कहता है कि मुक्त जीव भी लोक के बाहर अलोक में नहीं जा सकता। अब संसार छोड़ देने का अर्थ सांसारिकता का त्याग मानना चाहिए। यह सांसारिकता क्या है कि जो आदमी को अधार्मिकता में फँसाती है ? धर्म ने सांसारिकता का तिरस्कार किया है। यानी उसकी दृष्टि में जो असांसारिक है वह धर्मात्मा कहलाता है। पर सांसारिकता क्या इतनी बुरी है कि उसका त्याग ही किया जाना चाहिए ? फिर जीवों के पारस्पारिक उपग्रह का क्या अर्थ रह जाएगा ?

संसार की स्वीकृति

महाव्रती के संसार छोड़ देने को मान लेना चाहिए। पर, जो हवा इधर-उधर बहती है वह संसार की ही है। जो भोजन ग्रहण किया जाता है वह इसी संसार में पैदा होता और पकाया जाता है। आत्मा के लिए 'निद्रा' रोग हो सकता है, पर शरीर के लिए 'अनिद्रा' भी रोग ही है। यह निद्रा और अनिद्रा का दर्शन भी इसी जगत में होता है।

इन्द्रियों से जो देखा, सुना और बोला जाता है वह भी लोक-बाह्य नहीं है। पारस्परिक सम्बन्धों को अगर छोड़ भी दिया जाय तो सांसारिक स्वीकृति इस प्राकृतिकता में आ जाती है। सच्चे अर्थों में तो इस प्राकृतिकता का त्याग होने पर ही सांसारिकता का त्याग माना जाना चाहिए। पर इस प्राकृतिकता का त्याग हो नहीं सकता। और जो त्याग नहीं कर सकता वह सदेह है और सदेह वह है जो सामाजिक है। सामाजिकता से अलग होकर जो धर्म आत्म-कल्याण की दुहाई देता है वह अभी कल्पना में है। उसे धरती पर उतरना चाहिए।

विधि और नियमों का अनुराग

पढ़ने में आया कि वैराग्य समता का प्रतीक है। यानी किसी के प्रति भी विरागी में आग्रह, अनुराग या उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। पर, अचरज है कि वीतरागी अपने नियमों के प्रति, आचरण की विधियों के प्रति अत्यन्त आग्रही दिखाई पड़ते हैं। वे यह नहीं सोचना चाहते कि उन नियमों के कारण उनकी व्यवस्था करने में किसको कितनी सुविधा-असुविधा हो सकती है! मैं साहसपूर्वक कह सकूँगा कि अपनी विधियों का निरन्तर ध्यान रखना भी वीतरागता का अनुराग है, या कि नियमों का अनुराग है। यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वीतरागी धार्मिक होता है। जो धार्मिक होता है वह किसी को कष्ट नहीं दे सकता। जैन मुनियों के लिए नियम है कि वे उनके लिए बनाए गए भोजनादि को ग्रहण न करें। पर आज के श्रावक की सब से बड़ी मुसीबत यही है। जो इस मुसीबत नहीं समझते वे शायद कष्ट-सहन को ही धर्म समझते हैं और युग की विचार-धारा से अपरिचित, भोले हैं। ऐसे लोग ढोंगी तो नहीं होते, पर सामयिक विवेक की वे जरूरत नहीं समझते। सन्त नामदेव ने कहा है कि योगी का प्रेमी रहना उतना ही कठिन है जितना अग्नि का शीतल या सिंह का अक्रूर रहना! समझा यह गया कि जो साधु

जितना निष्ठुर, रूक्ष और क्रोधी होता है वह उतना ही साधक और मोह-रहित रहता है। मोह से दूर रहना साधु के लिए आवश्यक है, पर इस के लिए प्रेम के त्याग की आवश्यकता क्यों हुई, यह समझ में नहीं आता। संसार के प्रति प्रेमी रहकर भी तो निर्मोही रहा जा सकता है। मोह-रहित बनने के लिए यदि प्रेम का ही त्याग किया जाता है तो इस का अर्थ तो यही हो सकता है कि यह एक प्रकार की दुर्बलता है—इस में पलायन वृत्ति स्पष्ट है। यह ऐसी ही बात है कि जो आदमी किसी रोगी या अपराधी या पीड़ित के प्रति सहानुभूति नहीं रख पाता वह मन में उठने वाली घृणा के वेग से बचने के लिए उस से अलग रहना चाहता है।

धन और वैराग्य

धर्म का तो धन से आन्तरिक सम्बन्ध है ही, वैराग्य का भी प्रतीत होता है। अन्तर इतना ही है कि धर्म का धन बढ़ता जाता है और वैराग्य का धन बोझ बढ़ाता है। धर्म का धन आदमी को साहूकार बनाता है और वैराग्य ऋण में से पैदा होता है। आदमी कमाने में असमर्थ हो, परिवार का वातावरण अनुकूल न हो, सिरपर कर्ज का भार बढ़ गया हो, या कोई बड़ा भारी सामाजिक अपराध हो गया हो अथवा किसी आप्त की मृत्यु हो गई हो तो वैराग्य लेने की सूझती है। क्योंकि वह जानता है कि उसे वैराग्य लेने के बाद कमाना नहीं पड़ेगा, परिवार की चिन्ता से वह मुक्त रहेगा, सामाजिक दण्ड से भी छूट जाएगा। इतना ही नहीं, उसे आदर और सन्मान भी मिलेगा। उसकी रक्षा के लिए जनता को अपनी पूजा के लिए बाध्य भी किया जाता है। कई जगह तो इसके लिए विशेष प्रबंध भी रहता है। मुनि अपरिग्रह के महाव्रती या सर्वांगीण प्रतिनिधि होते हैं और वे अपने लिए बनाया गया भोजन आदि भी ग्रहण नहीं करते। किंतु देखा गया है कि उन साधुओं के साथ कुछ धर्म-भक्त सेठों की ओर से सामान लदी गाड़ियाँ भी चलती हैं। साथ के श्रद्धालु या वेतन-भोगी गृहस्थ साधुजी

की चर्या का पूरा प्रबन्ध करते हैं। वे साधु भी जहाँ जाते हैं वहाँ के सम्पन्न लोगों की कृपा के आकांक्षी रहते हैं। यद्यपि साधुओं का आहार सात्त्विक, सादा और अल्प ही होता है, परंतु उसके लिए आयोजन और ठाठ किसी पूंजीवादी भोज से कम नहीं होता। और यह आहार उन्हींके यहाँ या उसी जाति में ग्रहण किया जाता है जो सम्पन्नता के कारण ऊँची कहलाती है। यह अगर धन की महिमा नहीं है तो अपरिग्रह का दर्शन भी इसमें शायद ही होता है।

अनासक्ति और वीतरागता

गीता का एक शब्द है 'अनासक्ति'। अर्थात् कर्म करते हुए भी जो उसमें संकुचित स्वार्थ नहीं देखता और लालच नहीं रखता वह अनासक्त माना जाता है। अच्छा काम करो और सब के लिए करो और उस में भी अनासक्त रहो—यह अनासक्ति का अर्थ है। खाने को भोजन सुस्वादु मिले या चाहे जैसा, पहनने को वस्त्र चाहे जैसा मिले या न मिले, सब काम में जो सहज रूप रहता है और सुख-दुख नहीं मानता उसे ही वास्तव में अनासक्त कहा जाना चाहिए। 'वीतराग' शब्द का भी इसी अर्थ में उपयोग करना चाहिए। जो वैराग्य कर्म के क्षेत्र में निष्क्रियता फैलाता है उसे धर्म तो नहीं, दंभ ही कहना चाहिए। जगत से दूर रहकर आत्म-साधना की जाती है और उसका महत्त्व है, लेकिन यह एकान्त साधना अगर जगत की सेवा करने से विमुख करती है या सम्बन्ध तोड़ती है तो वह स्वार्थ ही होगा। एकांत-साधना थकावट के समय के विश्राम जैसी होनी चाहिए। क्योंकि यह विश्राम अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता है और यह आवश्यक भी है। वीतरागताका अर्थ तो रागद्वेष-विहीनता ही है। लेकिन आज तो वह कर्म-विहीनता तक बढ़ गया है। किसी युग में यह अर्थ उपयुक्त रहा हो, पर सदा परिस्थिति एक-सी तो रहती नहीं।

निरुपयोगी साधना

कुछ कहेंगे और कहते ही हैं कि अगर काम ही करना होता तो

कोई साधु क्यों बनता ? सांसारिक कार्यों की अपेक्षा साधु की आत्म-साधना बहुत कठिन है। मैं अनुभवी नहीं हूँ, मान लेता हूँ कि वे ठीक कहते हैं। पर, कोल्हू के उस बैल को आप क्या कहेंगे जो दिनभर फिरकर वहीं रहता है। एक आदमी है, जो श्रम के लिए चक्की चलाता है, पर अनाज लेकर नहीं बैठता। स्पष्ट है कि जो उपयोगी नहीं है वह श्रम व्यर्थ ही है। आत्म-साधना में शरीर तपता भले ही हो, समाज और देश के जीवन को उस ताप से समाधान या शान्ति नहीं मिलती। साधना आत्मा की की जाती है और पोषण शरीर का किया जाता है। यह उल्टी चक्की वैराग्य के नाम पर समाज में चलती रही है। और जब तक चलती रहेगी, समाज की काया-पलट नहीं होगी—उसकी विकृति दूर नहीं होगी।

आप अकेला अवतरे

धर्माचार्यों ने कहा कि आदमी अकेला आता है और अकेला ही जाता है। उसका इस दुनिया में कोई संगी-साथी नहीं है। वे यहीं नहीं रुके, आगे बढ़े और कहा कि शरीर मल-मूत्र का घर है, परिजन स्वार्थ के सीरी हैं और उन्नति में बाधक हैं। किसी को वश में करने के दो तरीके बड़े आसान हैं। एक ज्योतिषी था। उसे आता-जाता क्या था यह तो मैं कह नहीं सकता, पर लोगों के हाथ देखते समय वह दो बातें विशेष रूपसे कहता था। एक तो तुम्हारा उपकार माननेवाला कोई नहीं है। तुम जिसका उपकार करते हो वह भी तुम्हारा साथ नहीं देगा। और दूसरी यह कि तुम्हें अमुक रास्ते से धन की प्राप्ति होने वाली है। मतलब यह कि आदमी को श्रेष्ठता प्रदान की जाय और प्रलोभन दिया जाय तो वह जल्दी वश में हो जाता है। धर्माचार्यों ने भी बात तो यही की, पर जरा ऊँचे स्तर से की। यह अचरज की बात है कि जहाँ 'सत्वेषु मैत्री' की शिक्षा मिलती है वहीं 'अपने अपने सुख को रोवै पिता, पुत्र, दारा' की भी वृत्ति को पुष्ट किया गया है। अगर हम किसी को अपना आत्मीय नहीं बना

सकते तो यह कहने में क्या अर्थ है कि दुनिया स्वार्थी है। अपनी असमर्थता को छिपाने के लिए धर्म के शब्द-तीरसे दूसरों की निंदा करना कहाँ तक उचित है ?

वैराग्य के विद्यालय

अब तो वैराग्य के विद्यालय भी देखने में आते हैं। छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को उन में प्रविष्ट किया जाता है। उन्हें विरागी बनने की शिक्षा दी जाती है। विराग पैदा करने के लिए संगीत-शृंगार का भी अवलम्बन लिया जाता है। स्वाद-जयी बनने के लिए मिठाइयाँ भी खिलाई जाती हैं। इन विद्यालयों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वैराग्य जन्म-गत नहीं होता। अगर ऐसा है तो यह हर्ष की बात है। पर शायद मेरा यह समझना गलत हो। इस में शिष्यों की संख्या का मोह है या वैराग्य का अनुराग, कौन जाने ? पर इतना निश्चित है कि ये विद्यालय शरीरधर्म और समाजधर्म की अवहेलना या उपेक्षा कर जिस आत्मधर्म का प्रचार कर रहे हैं वह इतना निष्क्रिय तथा पूंजीवादी कोटि का है कि उससे समाज को, उनको और उनकी धर्म-शीलता को भारी क्षति पहुँच रही है।

नेताओं के दर्शन

कुछ साधु अपने नाम से पत्र-व्यवहार नहीं करते क्योंकि उन्हें डर है कि इससे पारस्परिक मोह उत्पन्न होता है। पर बात-चीत तो होती ही है। कई बार तो प्रतिष्ठित और सरकार-मान्य नेताओं से मिलने भी मुनि पदार्पण करते हैं। किसी का बच्चा मर जाय या घर लुट जाय तो उसे सांत्वना देने जाने में मुनि शायद धार्मिक बाधा महसूस करेंगे, पर राज्याधिकारियों से मिलने में उन्हें गौरव महसूस होता है। वैराग्य को टिकाए रखने के लिए वे संसार के व्यवहार और शृंगार से इतना डरते हैं कि सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने में भी उन्हें धार्मिक बाधा उत्पन्न होने की शंका होती है। पर समय-बे समय चाहे जैसी चर्चा करने, गाना गाने, समाज की

भली-बुरी बातें छेड़ने में धर्म आड़े नहीं आता। किसी नेता से मिलने या चर्चा करने में आपत्ति किसे हो सकती है। लेकिन विचार तभी होता है जब विवेक को ताक में रखकर भावों की अपेक्षा नियमों की लीकों की रक्षा पर जोर दिया जाता है। उनका वैराग्य और कोई बाधा नहीं डालता, केवल ज्ञान-प्राप्ति और विचार-शक्ति पर ही प्रतिबन्ध लगाता है। सामायिक या ध्यान में बैठा-बैठा कोई मुनि या गृहस्थ अपनी चिंता छोड़ आए उपसर्ग को सहन कर जल-मर जाय तो किसी दृष्टि से उचित माना भी जा सकता है, पर क्या वह सामायिक इतनी भी निष्ठुर हो सकती है कि उस समय किसी को जलते-मरते या तकलीफ पाते देखकर भी उसे बचाने, सान्त्वना देने के लिए उठा नहीं जा सकता? अगर धर्म और वैराग्य ऐसा कर सकता है तो उस से तो सामान्य शिष्टाचार और नैतिकता भी अच्छी है।

कला और वैराग्य

कुछ साधुओं के पास मैंने हाथ के लिखे बढ़िया ग्रंथ तथा लकड़ी के बने हुए सुन्दर और रंगीन पात्र देखे। पूछनेपर उन्होंने कहा: "इस में हमारा स्वावलंबन है।" पर, वह रंगीनता और मनोहरता और लिपि की सुघरता और महीनता तो शायद कला-प्रियता की ही द्योतक थी। छपे ग्रन्थ और धातु के बर्तन परिग्रह में आते हैं। और परिग्रह वैराग्य का बाधक है। पर अपने स्वावलंबन का अभिमान भी तो शायद अपरिग्रह नहीं है। और फिर जो सामग्री उनके पास रहती है उसको भी तो सुरक्षित रखना ही पड़ता है। अगर स्वावलंबन ही है तो वह बर्तनों तक ही सीमित क्यों रह जाता है—उसे कृषि और चूल्हे तक भी बढ़ना चाहिए। और फिर अनासक्त उपयोग में कला का क्या महत्त्व? कला का चरम विकास समाज और जीवन के पतन का द्योतक है। इतिहास इसका साक्षी है। साहित्य में भी विकृति और अश्लीलता तभी आई जब 'कला' कला के लिए ही रह

गई। कहीं अपरिग्रह के प्रतिनिधियों की असंग्रहणीय सामग्री भी स्वावलम्बन के बहाने केवल कला की अभिव्यक्ति ही न रह जायँ।

सच्चा वैराग्य

यों वैराग्य के कई भेद-प्रभेद हो सकते हैं। एक तो वह है जो अभावों में से निपजता है। दूसरा दुर्बलताओं और निराशा में से प्रकट होता है। पर एक वैराग्य वह भी है जो तृप्ति में से उदित होता है। **मेरा खयाल है कि तृप्ति का या अनुभव का वैराग्य ही सच्चा और स्थायी होता है।** न मिलने पर लोमड़ी के लिये अँगूर खट्टे हो सकते हैं, पर मिठास भी मिलने के पूर्व समाप्त नहीं होती। हम प्रायः देखते हैं कि बाजार की परिमित वस्तु खाने में सुस्वादु और रुचिकर लगती है, लेकिन उस से अधिक उत्तम और अपरिमित वस्तु यदि घर की बनी होती है तो उस के प्रति आकर्षण नहीं रह जाता। सद्भाव में अनासक्ति ही सच्ची विरक्ति है। अँगूर पास में हों और फिर लोमड़ी उन्हें खट्टा बताकर छोड़ दे तो ही बात सच्ची और साहसपूर्ण कही जायगी। हमारे अधिकांश साधु देखें कि वे किस कोटि में आते हैं।

आज यदि हमारे साधुओं में सहज-वैराग्य या समाज को सुख पहुँचाने की कर्म-शीलता नहीं दिखाई देती तो इसका कारण यही हो सकता है कि वे शास्त्रों के भावों और युग की स्थिति से दूर होकर शब्दों और रूढ़ियों से चिपक गए हैं। और सच तो यह है कि कर्त्तव्य पर रूढ़ि का अधिकार होते ही धर्म की मौत हो जाती है।

कर्म-शील वैराग्य

वैराग्य के विषय में ये कुछ पंक्तियाँ विचार के लिए मैंने लिखी हैं। किसी की श्रद्धा को डिगाने और वैराग्य को चिगाने का मेरा उद्देश्य कतई नहीं है। हां, यह कहने का अधिकार अवश्य चाहता हूँ कि अब कर्म-

शील वैराग्य ही पूजनीय हो सकेगा। और धार्मिक विधियों में से वे सब बातें हटा देनी होंगी जिनसे आदमी अकर्मण्य बनता है और परिवार, समाज और देश के प्रति अनुत्तरदायी। अन्यथा जिस प्रकार श्मशान-वैराग्य व्यंग और विनोद की वस्तु है, वही गति धार्मिक वैराग्य की भी होनेवाली है। **सच्चे अर्थों में विरागी वह है जो सेवा देता है, लेनेवाला तो दम्भी और दीन ही हो सकता है।**

: ८ :

यह असमता क्यों ?

महात्मा भगवानदीनजी

असमता का प्रश्न

डाकू से लेकर संत तक, रंक से लेकर राजा तक, मरियल से लेकर पहलवान तक, मूरख से लेकर महा-पंडित तक सब एक ही तरह से माँ के कोख में जगह पाते हैं, एक ही ढंग से जन्म लेते हैं, एक ही तरह रोते, हँसते और दूध पीते हैं, एक ही धरती माता के दिये टुकड़ों पर पलते-पुसते हैं, एक ही तरह की हवा और धूप लेकर फलते-फूलते हैं और एक तरह का पानी पीकर ताजगी हासिल करते हैं। फिर यह क्या बात है कि कोई डेढ़ हाथ का बौना रह जाता है और कोई पंछत्था जवान बन जाता है। कोई गंगुआ तेली रह जाता है और कोई राजा भोज हो जाता है। कोई आये दिन दर दर की ठोकरें खाता फिरता है और कोई अपने दरवाजेपर आये हुए सफेदपोशों को दर्शन देता और अपने पाँव पुजवाता है। ये ऐसी बातें हैं कि छोटे-बड़े सभी को खटकनी चाहिए। पर अचरज तो यह है कि सौ में से एक के मन में भी इस तरह की खटक नहीं पाई जाती। आज के समाजवादियों ने और साम्यवादियों ने सौ में से एक दो में ऐसी खटक पैदा की तो है पर उस खटक में बनावट बहुत है। और वह अपने ढंग की अलग होते हुए भी हमें बेढंगी और बेतुकी जँचती है। उस खटक में बाहरी कौंच बेहद और भीतरी कौंच नाम को भी नहीं। वे राजा को गद्दी से हटाकर उस की गद्दीपर जमकर रंकपने को मिटाना चाहते हैं। उनका यह कार्य उस बीमार जैसा है जो उठ-बैठ नहीं सकता और इस वजह से उसके हकीमने उसके खाने के लिए बिना चिकनाई की पतली खिचड़ी तज-

चीज़ कर रक्खी है और वह अपनी खिचड़ी खाते खाते किसी पहलवान के हलवे के थाल पर जा लपके और ज्यादा खाने के बाद यह मानने लगे कि वह तन्दुरुस्त हो गया। जिस तरह वह मरीज बेहद टोटे में रहेगा उसी तरह से यह रंक भी राजा की गद्दी हथिया कर और ज्यादा रंक बन जायगा। ऊपर से पैदा हुई खटक जो रंग लाती है वह न एक के लिए अच्छा होता है और न समाज के लिए। ऊपर की खटक एक आदमी को यह सोचने समझने का अवसर ही नहीं देती कि वह क्यों रंक रह गया। वह रंकपने को ही किसी की देन समझता है। और यही समझता है कि जिस तरह यह राजा के हाथ में है कि वह जी चाहे जिस को सिपाही की वर्दी पहना दे और जी चाहे जिसको हवलदार की और जी चाहे जिसको सेनापति की। उसको यह पता ही नहीं कि सिपाही, हवलदार और सेनापति की वर्दियाँ यों ही नहीं बाँटी जाती हैं। सिपाही में सिपाहीपने की परख की जाती है। उसे तब वर्दी मिलती है। वैसे ही परख की कसौटी पर हवलदार और सेनापति भी कसे जाते हैं तब वे उस वर्दी के हक़दार बनते हैं। पर जिस आदमी में बाहर से खटक पैदा की गई है उसे इतने गहरे पानी में जाने की जरूरत क्या ? बाहरी खटक वाला तो बाहरी सीधा रास्ता ही अख्तियार करेगा और वह यही कि राजा को गद्दी से ढ़केलो तो एक छन में राजा बन जाओ। हो सकता है कि इस तरह के काम से किसी एक को थोड़ी देर के लिए छोटी-मोटी सफलता मिल जाय पर सारे समाज की भलाई चाहने वाले की नज़र इस ओछी बनावटी सफलता पर भूले-भटके पड़ भी गई तो टिक न पायेगी। वह ऐसी छोटी सफलता से न कोई सीख ले सकता है और न ऐसा कोई अटल सिद्धान्त बना सकता है जो समाज के सब आदमियों पर अलग-अलग काम में लाया जा सके। राजा तो गिनती का एक होता है, वह सब रंकों को राजा की गद्दी न दिला सकता है और न उसे ठीक समझता है। वह यह ज़रूर मानता है कि हर रंक में राजा होने की योग्यता है और एक ने ही उस योग्यता को बरसों धोया पोंछा और

बाँचा माँजा है तभी किसीने राजा का मुकुट उस के सिर पर धर दिया है और उसने अपनी पहली तपस्या के बलपर स्वीकार कर लिया है और ठीक ढंग से संभाले हुए है। वह देखने के लिए राजा बनता या न बनता उस का रंकपना दूर हो चुका था और वह पहले ही से राजा था। सिर्फ लोगोंने उसे अब राजा कहा। यही सच्ची बात है। जो अन्दर से राजा नहीं हैं वे राजा की गद्दी पर ज्यादा देर नहीं टिक सकते और जो अन्दर से राजा है वह जहाँ है वहीं उसके लिए राजगद्दी मौजूद है। दुनिया मुर्गी को दाने और राजहंस को मोती चुगाती है। राजा और रंक समझदारों की नजरों से छिप नहीं पाते। पर जिस तरह हंस नहीं चाहता कि उसे कोई हंस कहे उसी तरह से जो भीतर से राजा है उसे राजा कहलवाने की इच्छा नहीं होती। बालकपन और बूढ़ेपन की तरह से रंकपना और राजापना आदमी के मन की अवस्थाओं का नाम है। रंकपने को और कुछ अर्थ ही नहीं है सिर्फ यह समझना है कि मैं रंक हूँ। रंक को इस अनन्त सुख से भरी दुनिया में दुःख ही दुःख दिखाई देता है। बीमारी में जिस तरह हमारा सब देह टूटने लगता है और हम यह चाहने लगते हैं कि यह देह न होता तो हम बड़े सुखी होते, उस वक्त हम यह भूल ही जाते हैं कि दुनियादारी के सुख को हम इस देह के बिना अनुभव ही नहीं कर सकते। ठीक इसी तरह से रंक को दुनिया के सब सुख दुख ही दिखाई देते हैं और वह चाहने लगता है कि ये सब न होते तो अच्छा था। उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि इन सब के बिना वह कितना दुःखी बन जायगा। जिस के मन में सारे समाज को सुखी देखने की इच्छा प्रबल होती है वह सुख के कारण को बाहरी चीजों में नहीं ढूंढ़ता। वह अन्दर नजर डालता है और वहाँ उस को वे कारण मिल भी जाते हैं। वह रंक और राजा की बात सोच कर ही नहीं रह जाता। वह अपने मन में तरह तरह के सवाल उठाता है। वह इस तरह सोचता है : एक रंक राजा की गद्दी तो ले सकता है पर राज-काज नहीं चला सकता। एक लठैत लठ के बलपर किसी सौदागर की दूकान का कब्जा तो ले सकता है, उस के धन

पर कुछ दिनों रंगरेलियाँ उड़ा सकता है पर दूकान को ठीक ढंग से चला नहीं सकता। एक अपढ़ किसी प्रोफेसर की कुर्सीपर आ डट सकता है पर सिवाय इस के कि वह विद्यार्थियों के खिलवाड़ की चीज़ बन जाय, उन्हें बता क्या सकता है ? इस तरह के विचार उसे ऐसी जगह पहुँचा देते हैं जहाँ पहुँचकर समाज में फैली हुई असमता का ठीक ठीक कारण वह समझ जाता है और अब उसको असमता में ही समता दिखाई देने लगती है। वह यह समझने लग जाता है कि चींटी और हाथी में एकसा आत्मा है। पर चींटी किसी तरह भी हाथी के देह को नहीं संभाल सकती और न हाथी के आत्मा में इस वक्त इतनी ताकत है कि वह चींटी के देह में समा जाय। इस तरह के विचार उसे इस तत्त्वपर ले आते हैं कि वह आदमी की यह जाँच करे कि आदमी कितने अंश में स्वाधीन और कितने अंशों में पराधीन है।

देश-गत असमानता ?

इस में आदमी का क्या वश है कि वह हिन्दुस्तान में पैदा हो गया। हिन्दुस्तान में पैदा होने के नाते वह हिन्दुस्तानी कहलाने लगेगा और अब वह हिन्दुस्तानियों का अपना और चीनियों, जापानियों, रूसियों का पराया बन जायगा। अब वह कितना ही उन लोगों को प्यार करे, उनका अपना नहीं हो सकता। कुछ चीनी, जापानी, रूसी समझदार तरह तरह की आड़ी टेढ़ी परख के बाद उसे किसी तरह अपना मान भी लें तो सब जापानी तो नहीं मानेंगे और उन मुल्कों के हिन्दुतान के साथ लड़ाई छिड़ जाने के बाद तो वह समझदारों की नजर में भी उनके मुल्क का दुश्मन समझा जाने लगेगा और अगर वह इन मुल्कों में से कहीं हो तो जेल खाने के सिवाय उस के लिए कोई जगह नहीं रह जायगी। उस का हिन्दुतान में पैदा हो कर हिन्दुस्तानी होना भर काफी सबूत है कि वह चीनी, जापानी, रूसी नहीं। और अगर वह इनमें से कोई एक बनता

है तो वह धोखेबाज है, धोखा देना चाहता है और अगर सच्चा है तो देश-द्रोही है। अब बताइये वह हिन्दुस्तानियत जो उस के मर्जी के बिना उस पर थोप दी गई है उस का वह क्या करे? वह उस के लिए बला बन गई है। और फिर बुरा तो यह कि इस जबरदस्ती थोपी हुई चीजपर आदमी अभिमान की बड़ी से बड़ी हवेली खड़ी कर लेता है। बस, यह जबरदस्ती की हिन्दुस्तानियत, जिस के गढ़ने में आदमीका जरासा भी हाथ नहीं है असमता की बीज बन बैठती है। इस बीज के बीजपन को जलाए बिना असमताकी बेल को उगाने से नहीं रोका जा सकता।

जाति-गत असमानता?

आदमी का इस में क्या वश है कि वह एक हिन्दूघर में पैदा हो और अब उसे चाहे-अनचाहे अपने को हिन्दू कहना पड़ेगा और कुल के अनुसार चोटी रखानी होगी, जनेऊ पहनना पड़ेगा और पंथ के अनुसार तिलक छाप लगाना होगा और भी न जाने क्या क्या करना होगा। यह हिन्दूपन भी आदमी के सिर जबरदस्ती का थोपा हुआ नहीं तो और क्या है? कोई बच्चा माँ के पेट से हिन्दू या मुसलमानी निशान लेकर पैदा नहीं होता। आज तक इन्सान न कोई ऐसी मशीन बना पाया है और न ऐसे साधन जुटा पाया है जिसपर कस कर या जिनकी मदद से वह किसी बच्चे के बारे में यह बता सके कि वह हिन्दू माँ के पेट से पैदा हुआ है या मुसलमान माँ के पेट से। वह हिन्दू बाप के वीर्य से है या मुसलमान बाप के नुत्फे से। कुदरत ने ऐसा भेदभाव रक्खा ही नहीं और वह रखती भी क्यों? उसे क्या पता था कि यह आदमी का बच्चा जिसको उसने इस सारे पृथ्वीग्रह का मालिक बनाया है वह इसको एशिया, यूरप के टुकड़ों में काट डालेगा और फिर उस के हिन्दुस्तान और चीन जैसे और छोटे टुकड़े कर डालेगा और फिर फाड़कर पंजाब, बंगाल जैसी थेकलियाँ बना बैठेगा। और उस कुदरत को यह भी क्या पता था कि वह आदमी का बच्चा जिस

को उसने सारे मानव समाज का सदस्य बनाकर पैदा किया था, एकदिन इस मानव समाज के पट को छोटी-छोटी धज्जियों में बांट देगा और उन को हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई नाम देकर इतनी असमता पैदा कर लेगा कि हर धर्मका अनुयायी अपने को भेड़िया और दूसरे धर्मवालों को निरी भेड़ समझने लगेगा और यों मानव समाज फाड़खाऊ दल और फाड़ खाये जाने वाले दलों में बँट जायगा।

विचार और भाषा की असमानता ?

कुदरत को यह भी क्या पता था कि उसका विचार और भाषा के अनोखे जेवरों से लदा आदमी का बच्चा और भी ज्यादा प्रेम-बन्धन में बंधने की जगह द्वेष की आग से जलकर राख के कणों की तरह हवा की मदद से कण-कण में बिखर जायगा या जगह जगह कुछ कण-पुंजों का टीला बना कर जम जायगा। और फिर आये दिन एक टीले के कुछ कण दूसरे टीले में जा मिलेंगे और दूसरे के कुछ कण तीसरे में जा मिलेंगे या पहले में आ मिलेंगे। और फिर यह साधारण-सी बात भी द्वेष की भभक के कारण झगड़े की बात बन जाया करेगी। हिन्दू, मुसलमान, ईसाईपना न प्रकृति की देन है और न मानव की सूझ। यह तो आदमी के सिर थोपी हुई बलाएँ हैं। न मुहम्मद साहब ने कोई नई बात कही, न कहने का दावा किया और न हजरत ईसा ही कोई नई बात कह गये थे। रही हिन्दूधर्म की बात, उसे तो किसी एक के सिर मढ़ना आज असम्भव-सा हो रहा है। वह तरह तरह के विचारों की खान है। सब उस के लिए समान हैं और वह सब के लिए समान। जिस तरह किसी देश में जन्म लेना हमारे वश की बात नहीं, वैसे ही किसी धर्म में जन्म लेना भी हमारे वश के बाहर है। यह है, तो है पर मुश्किल तो यह है कि हम इस बेबसी की सिर पड़ी बपौती को ऐसे ही अपनाते हैं मानों हमारी यह निजकी कमाई हुई चीज़ है। तब उसे अपने मोल आँकने पर हंसी आती है और अपनी

बपौती से पाई चीज़ के साथ हम किसी तरह भी ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते जैसा अपनी कमाई हुई चीज़ के साथ। अपनी कमाई हुई चीज़ की रग-रग से हमारी जानकारी होती है, उस के कमाने के हथकण्डों से हम वाक़िफ़ होते हैं; उस के टूटने-फूटनेपर उसे सुधार-संवार सकते हैं। इतना ही नहीं उस के कमाने के हथकण्डे हम किसी और को भी सिखा सकते हैं। उस के बारे में हमें यह भी विश्वास होता है कि हमारी तरह से कोई और भी उसे जल्दी ही आसानी से कमाना सीख सकता है और यह जानकारी हम में अपनी कमाई हुई चीज की वजह से घमण्ड को बहुत कम पास आने देती है या बिल्कुल पास नहीं आने देती। बपौती से पाई चीज़ के बारे में इस से एकदम उल्टा होता है। न उसे हम ठीक समझते हैं और न उसका ठीक ठीक मोल ही आंक सकते हैं और कभी आंकने ही लग जांय तो हज़ार में से नवसौ निन्नानवे आदमी उस के दाम इतने आंकेंगे जिसको दूसरे सुनकर दंग रह जाँय। यही वजह है कि आदमी जिस धर्म में पैदा होता है उसकी कुछ भी जानकारी न होने से या ठीक ठीक जानकारी न होने से उस का मोल बेहद ऊँचा आंक जाता है लेकिन अगर उसे अपनी ज़िन्दगी में कभी पूरी तरह से उस धर्म के जांचने का मौक़ा मिल गया जिस में वह पैदा हुआ है, मूर्खता का पता लगाता है। उसने भूल सिर्फ़ इतनी ही की होती है कि उसने अपने धर्म का मोल किसी दूसरे धर्म को सामने रख कर आँका होता है, जब कि उसकी जानकारी दोनों ही धर्मों के बारे में शून्य होती है। पर अब जब वह अपने धर्म की जांच करता है और सच्चे जी से जाँच करता है तो वह उसे चमकता हुआ तो मालूम होता है, पर साथ ही साथ उसे मालूम होता है कि दूसरा धर्म भी उतना ही चमकता हुआ है। और उसे यह भी मालूम होता है कि इस तरह की चमक उस के अन्दर भी मौक़े बेमौक़े पैदा होती रही है। पर इतनी दूर तक पहुँचने का अवसर किसी किसी को ही मिल पाता है। इसलिये उस

धर्म का अभिमान जिस धर्म में एक आदमी पैदा हुआ है कर बैठना किसी समय भी खतरे से खाली नहीं होता। धर्म के ऐसे अन्ध-विश्वासी जो कारनामे कर गुजरते हैं उनकी कथाओं का समूह इतिहास नाम पाता है। और उस इतिहास पर हमारे जवानों की बुद्धि का पालन-पोषण होता है और उसी की वजह से समाज को वे दिन देखने पड़ते हैं जिसके बारे में वह तय ही नहीं कर पाता कि आज का दिन किस दिन की किस कार्रवाई का फल है। बस, सिर पर थुपे धर्म का अभिमान किसी तरह ठीक चीज नहीं और उस से बचे रहने में ही अपना और समाज का भला है।

अमीरी किसी पुण्य-कर्म का फल नहीं है

चाहने न चाहने से कोई आदमी किसी अमीर घराने में जन्म नहीं लेता। अमीर घराने में जन्म लेना पुण्य कर्मों का भी फल नहीं होता।

यह ठीक है कि बहुत से लोग उस को पुण्य-कर्मों का ही फल मानते हैं पर यह उनकी कोरी धींगा-धींगी है या बेमतलब की मनसमझौती है। अगर कुद-रतने, भाग्य ने या ईश्वरने किसी बालक को उसके पुण्य-कर्मों के बदले में या किसी वजह से जानबूझकर और सोच-समझकर अमीर घराने में जन्म दिया होता तो अमीर घर में पैदा हुआ बालक कभी गली की धूल से खेलना पसन्द न करता और गन्दी नाली में हाथ डालना तो उसे जन्म के पहले दिन से ही न सुहाता। अमीर घर की दासदासियां ही नहीं, उस बालक की चाची, ताई, दादी, नानी, भाई-बहन यहाँ तक कि उसकी मां भी उसे टीन और चांदी के चम्मच में तमीज करना नहीं सिखा सकती। वह कभी भी चांदी के चम्मच को फेंककर टीन का चम्मच लेना पसन्द करेगा और उसके लिए रो-रो कर सारे घर को सर पर उठा लेगा। वह चांदी के चम्मच को गन्दी नाली में ऐसे ही फेंक देगा जैसे मिट्टी की डली को। दूसरी तरफ वह मिट्टी की डली को बड़े चाव से मुंह में देगा और देर तक मुंह में रखना पसन्द करेगा

सोने की डली को भी वह मुंह में देगा पर शायद उतने चाव से और उतनी देर तक उसे मुंह में रखना पसन्द न करेगा, जितने चाव से और जितनी देर तक उसने मिट्टी की डली अपने मुंह में रक्खी थी। सारा घर बरसों उसे अमीरी सिखाने में लगा रहता है पर सफल नहीं हो पाता। बढ़िया से बढ़िया और साफ़ से साफ़ कपड़ों में धूल भरने में उसे कोई झिझक नहीं होती। वह किसी किसी काम के करने में शर्माता जरूर है पर वह शर्मा कर बताना यही चाहता है कि अमीरी बहुत खराब चीज़ है और यह अपनाने की चीज़ नहीं है। तुम लोग क्यों मुझे ऐसी खराब चीज़ अपनाने को जोर देते हो। वह साफ कहता मालूम होता है कि रेत से बढ़कर रूई के गद्दे नहीं हो सकते और घास से बढ़कर मलमल का कपड़ा नहीं हो सकता और फूलों से बढ़कर सोने-चांदी के बनावटी फूल नहीं हो सकते। मतलब यह कि वह अपने हर काम से यही साबित करना चाहता है कि कुदरत ने सोच-समझ कर उसे अमीर के घर पैदा नहीं किया है और न वह खुद ही सोच समझ कर वहाँ पैदा हुआ है। इस पैदा होने में शायद कोई भेद की बात भी हो पर वह इतनी थोड़ी निकलेगी जिसके जान लेने से इस बात के साबित करने में कोई मदद न मिलेगी कि पुण्य-कर्म के फल से कोई बालक अमीर घराने में जन्म लेता है और जो ज्यादा बात मिलेगी वह सिर्फ यही साबित कर सकेगी कि यह निरी आकस्मिक घटना है और इतनी ही आकस्मिक है जितना एक ईंट का मकान की बुनियाद में लगना या मुंडेर पर लगना।

अमीरी से सुख भी नहीं मिलता :

सुख-दुख के लिहाज़ से भी घर में पैदा होकर ज्यादा सुख नहीं मिल पाता। बीमारियों पर अमीरी का कोई अधिकार नहीं है। अगर बीमारियों पर किसी को कुछ अख्तियार है तो वह है सफ़ाई को, खुली हवा को चांदनी और धूप को, चश्मे के बहते हुए ताज़ा पानी को और हवा, धूप,

खाई, धूल, मिट्टी को और फिर और कुछ है तो ताज़ा-ताज़ा फलों को, महकते फूलों को, मीठी मीठी जड़ों को, खटमिट्ठी पत्तियों को, चटपटी जड़ी-बूटियों को और ये सब चीज़ें अमीरों को बहुत कम नसीब होती हैं। पैसे के बलपर वह इन चीज़ों को जुटा सकते हैं, पर जान-बूझकर नहीं जुटाते। धूल-मिट्टी की अमीर को क्या कमी। पर वह तो यह समझता है कि धूल-मिट्टी में खेलना गरीबों का काम है। इस से अमीरी को धक्का लगता है। चांदनी और धूप की अमीर को क्या कमी रह सकती है, पर वह तो यह समझता है कि बच्चे का नंगा रहना गरीबी की मार है। अमीर उस मार को क्यों सहे ? इसलिए अमीर का बच्चा तन्दुरुस्ती के सीधे-सादे साधनों से बहुत दूर पड़ जाता है और बीमारियों से लम्बी दोस्ती गांठ लेता है। इससे साफ ज़ाहिर है कि सुख का अमीरी से कोई सम्बन्ध नहीं। इसीलिए पुण्यकर्मों का अमीरी से कोई सम्बन्ध नहीं। क्योंकि पुण्यकर्म सुख के साधन जुटायेगा। और सुख के साधन जहाँ रहते हैं वहाँ जाने में अमीर अपनी हेटी समझता है। फिर पुण्यकर्म किसी को सुख के लिये तो अमीर घर में जन्म नहीं देगा। बस, तो यह पता चला कि अमीरी भी आदमी के सिरपर चाहे-अनचाहे थुप जाती है। अमीर बच्चों में से सौ में से निन्नानवे यह कहते मिलेंगे कि उनकी अमीरी उनके लिए कारागार बनी हुई है और वे उसमें कैदी हैं। जिस एक को ऐसी शिकायत नहीं होगी उसे यह न समझिये कि वह आज़ाद है। असल में वह इस योग्य ही नहीं है कि स्वाधीन-जीवन और बन्दी-जीवन में तमीज कर पाये। इसे कौन नहीं जानता कि शुद्धोदन को जब अपने बेटे सिद्धार्थ का जो आज बुद्ध नाम से जाने जाते हैं, यह पता चल गया कि वह अमीरी की धोखेबाजियों को समझ गया है और अमीरी का मामूली जेलखाना अब उसे किसी तरह नहीं रोक सकता, उसने उसको भागने से रोकने के लिए कितनी नई और कितनी ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी की थीं। कहीं नाच-गाने का सामान जुटाया था, कहीं बढ़िया से बढ़िया संगिनी उस के गांठ बांध दी थी। बढ़िया

से बढ़िया बाग-बगीचे उसके लिए तैयार किये गये थे और रथ-मंझोलियों की तो कोई गिनती ही न थी। क्या इसके बाद भी किसी को शक रह सकता है कि अमीर घर में पैदा होना जेलखाने में पैदा होना है और फिर क्या पुण्यकर्म ऐसे नीच काम करने की सोच सकता है?

असमता की जड़–अमीरी का घमण्ड

हम यह तो नहीं कहना चाहते कि अमीर घराने में जन्म लेना पाप का फल है, क्योंकि यह कहकर तो हम वही भूल करेंगे जो इसको पुण्य-कर्म का फल बताकर कर रहे हैं। हम यहाँ पुण्य-पाप के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। हमें तो सिर्फ इतना ही कहना है कि अमीर घर में अगर कोई आदमी पैदा हुआ है तो इस में उसका कोई कसूर नहीं, क्योंकि यह बात उस के बूते के बाहर की थी। कसूर तो वह यह करता है कि इस जबरदस्ती सर पड़ी बला को ऐसे ही अपनाता है मानों उसने बड़ी मेहनत और तपस्या से अमीर घर में जन्म पाया हो। इस भूल का नतीजा यह होता है कि वह अमीर और गरीब में फ़रक करने लगता है। जिस फ़रक को न वह पैदाइश से साथ लाया था और न अपने बचपन में किसी तरह मानकर देता था। वह फ़रक उस में उसकी मरज़ी के बिना ठूंसा गया है और अब उसको वह इस तरह अपनाता है, मानों जानबूझकर उसने उसे शौक के साथ पिया हो। यही वजह है कि वह अपने आपको एक ऐसी जगह खड़ा कर लेता है जहाँ खड़े हो कर समाज की तराजू की डंडी किसी एक तरफ़ को झुक जाती है और समाज की समता बिगड़कर समाज में खलबली मच जाती है और वह तूफ़ान उठता है जो औरों को ही नुकसान नहीं पहुँचाता उसको भी आफ़त में डाल देता है। बस, ऐसी सिर पर थुपी अमीरी का घमण्ड करना भूल ही नहीं, मूर्खता भी है। इतने मूर्खपने के लबादे तन पर लाद कर हम समाज की सेवा के लिए निकल खड़े होते हैं और जब उस काम में सफल नहीं होते जिसे हम करना चाहते थे तब अपनी असफलता

का भांडा किसी और के सिर फोड़ने लग जाते हैं। और यों एक और बड़ी मूर्खता कर बैठते हैं। असल में तो हमें इन चीजों का अभिमान मानना ही नहीं चाहिए जो हमें देश, धर्म, वंश, कुल की वजह से हाथ लग गई हों और जिन में हमारी अपनी कमाई का जरा-सा भी हिस्सा न हो या अगर हम किसी तरह से उन का अभिमान माने बिना रह ही नहीं सकते तो उन के जहर को यहाँ तक निकाल डालना चाहिए कि उनका अभिमान इतना ही रह जाय जितना एक नाम का। जिस तरह हमारा नाम राममोहन है और दूसरे का श्यामकुमार है और तीसरे का मुहम्मद अली है और चौथे का डेविड है पर जब हम गेंद का खेल-खेलते हैं तब डेविड का नाम 'डी' पर होने से पहला दाव उसे देते हैं और श्यामकुमार का नाम 'एस' से शुरू होने से सब से पीछे खेलाते हैं। उस वक्त हमारी निगाह सिर्फ नाम के अक्षरों तक रहती है, उस से आगे नहीं जाती। अगर यही बात देश, धर्म, कुल, वंश के साथ हो जाय तो दुनिया का बहुत कछ सुधार हो जायगा। पर हमें यह आसान बात ज्यादा मुश्किल और देर में सफल होने वाली मालूम होती है और यह मुश्किल बात कि सिर पर थुपी चीजों का अभिमान छोड़ दो, ज्यादा आसान मालूम होती है। इसी लिए हम इस बातपर जोर देते हैं।

असमता मिटाने का मार्ग

असमता के मिटाने के लिए ऊपर के तीन उदाहरणों में और भी जोड़े जा सकते हैं और यह काम हम पढ़ने वालों पर ही छोड़ते हैं। हम तो मोटे रूप से यही कह देना चाहते हैं कि देश, धर्म, कुल का खोटा अभिमान असमता को कभी नहीं मिटने देगा। मिटने देने की बात तो एक ओर उसे उल्टा पनपाता रहेगा। इस लिए इस बेमतलब की चीज को तो छोडने में ही अपना और समाज का भला है। यहाँ यह और समझ लेना चाहिए कि हम सिर से पैर तक इन्हीं जबरदस्ती थुपे गुणों के निरे

बंडल नहीं हैं, हम अपनी भी कोई चीज़ लेकर जन्मे हैं और वह है हमारा पुरुषार्थ, हमारा व्यक्तित्व, हमारी समझ, हमारा अन्तरात्मा। हम अपने अभिमान को सब ओर से हटा कर इसी एक अन्तरात्मा या ज़मीर पर पुंजीभूत कर दें, पानीला इकट्ठा कर दें तो हम बहुत जल्दी समाज में अपनी ऐसी जगह बना लेंगे जो ऊंची तो होगी पर असमता को पैदा न करेगी, जो बड़ी तो होगी पर दूसरे उसे देखकर अपने में छोटे पने का अनुभव न करेंगे, जो महान् तो होगी पर समाज में से किसी एक में भी तुच्छता के पांव न जमने देगी। हमारा अन्तरात्मा अपने आप हमें ऐसे रास्ते ले चलेगा जहाँ काँटे अपने आप फूल में बदलते चले जायेंगे और फिर अन्तरात्मा की आज़ादी की ऐसी बाढ़ आ जायगी जैसे खरबूजों के बेल में एक खरबूजा पकने से अनेकों खरबूजे पकने का तांता बंध जाता है। थोड़ी सी खलबली तो इस काम में भी होगी पर वह मीठी टीस की तरह खुशी खुशी बरदाश्त कर ली जायगी या बच्चा पैदा होने के वक्त की पीर की तरह रोते हुए भी सहन करने में दिल के अन्दर एक गुदगुदी बनाये रक्खेगी।

अन्तरात्मा की समता से ही समता फैल सकती है

यह सवाल न उठाइये कि अन्तरात्मा आपको कुएँ में जा गिराएगा। अन्तरात्मा परमात्मा का अंश है। उस से ऐसा काम कभी नहीं हो सकता। हाँ, झूठे अभिमान के साथ जो आत्मा कर बैठता है वह अन्तरात्मा नहीं होता। वह मन और मस्तक का षडयंत्र होता है। लोग नासमझी से उसे अन्तरात्मा की पुकार कह बैठते हैं। यहूदी ईसा का अन्तरात्मा जो कुछ बोला वह ईसाई धर्म नहीं है। ईसाई धर्म तो ईसा के स्वतंत्र अन्तरात्मा की पुकार है। मुसलमान या और किसी धर्म वाले मुहम्मद की अन्तरात्मा की पुकार इस्लामधर्म नहीं था और न है; वह तो मुहम्मद की स्वतंत्र आत्मा की पुकार है और वही तो ईश्वरीय इलहाम है। इसी तरह से बुद्ध और महावीर सभी देश, धर्म, और कुल के अभिमान से एक दम परे

होकर ही स्वतंत्र और स्वाधीन अन्तरात्मा को पहचान सके, उसकी सुन सके और उसी की आवाज को लोगों तक पहुँचा कर किसी हदतक समाज की असमता को मिटाने में सफल हुए और समता की स्थापना करने में कामयाबी पा सके। बस, समता के लिए अन्तरात्मा की समता सब से ज्यादा जरूरी है। अपने भीतर की समता के बल से ही बाहर समता फैलाई जा सकती है।

: ९ :

व्यक्ति का पुनर्निर्माण

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

आज पुनर्निर्माण की चर्चा है, व्यक्ति के नहीं, समाज के, अपने नहीं दूसरों के। क्या व्यक्ति का पुनर्निर्माण एकदम उपेक्षा की चीज है?

यह सत्य है कि व्यक्ति समाज की उपज है और यदि सारा समाज लूला-लंगड़ा रहे तो एक व्यक्ति भी सीधा नहीं खड़ा हो सकता, किन्तु फिर समाज भी तो व्यक्तियों का ही समूह है, यदि व्यक्ति व्यक्ति की ओर ध्यान न दे अथवा व्यक्ति अपनी ही ओर ध्यान न दे तो समाज भी आखिर कैसे खड़ा हो सकता है?

अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध तुकबन्दी का भावार्थ—यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुधार की ओर ध्यान दे तो एक जाति का निर्माण कितना आसान है।

बौद्धधर्म में सम्यक् व्यायाम के चार अंग कहे गये हैं—

१—इस बात की सावधानी रखना कि अपने में कोई अवगुण आ न जाय।

२—इस बात का प्रयत्न करना कि—अपने अवगुण दूर हो जायें।

३—इस बात की सावधानी रखना कि अपने सद्गुण चले न जायं।

४—इस बात का प्रयत्न करना कि अपने में नये सद्गुण चले आयं।

यदि बाग में अच्छे फल—फूल न लगाये जायें और जमीन को यूं ही पड़ा रहने दिया जाय तो उसमें बेकार के झाड़-झङ्खाड़ उग ही आयेंगे।

यदि अवगुणों को दूर करने और सद्गुणों को लाने का प्रयत्न निरन्तर नहीं किये जावेंगे तो अवगुण बने ही रहेंगे और सद्गुण नहीं आ पायेंगे। इसलिये यदि इस चतुर्मुखी कार्यक्रम को घटा कर इसके केवल दो अगों को स्वीकार कर लिया जाय तो भी मैं समझता हूँ कि भगवान बुद्ध का उद्देश्य पूरा हो सकता है।

अवगुणों को दूर करना और सद्गुणों को अपनाना ये दोनों भी क्या अर्थ की दृष्टि से एक ही नहीं हैं? इसका उत्तर हाँ और नहीं—दोनों में देना होगा।

एक आदमी को व्यर्थ बहुत बक-बक करने की आदत है। यदि वह अपनी इस आदत को छोड़ता है तो वह अपने व्यर्थ बोलने के अवगुण को छोड़ता है किन्तु साथ ही और अनायास ही वह मितभाषी होने के सद्गुण को अपनाता चला जाता है। यह तो हुआ हां पक्ष का उत्तर। किन्तु एक दूसरे आदमी को सिगरेट पीने का अभ्यास है। वह सिगरेट पीना छोड़ता है और उसकी बजाय दूध से प्रेम करना सीखता है, तो सिगरेट पीना छोड़ना एक अवगुण को छोड़ना है और दूध से प्रेम करना एक सद्गुण को अपनाना है। दोनों ही दो भिन्न वस्तुएँ हैं–पृथक पृथक।

अवगुणों को दूर करने और सद्गुणों को अपनाने के प्रयत्न में, मैं समझता हूँ कि अवगुणों को दूर करने के प्रयत्नों की अपेक्षा सद्गुणों को अपनाने का ही महत्त्व अधिक है। किसी कमरे में गन्दी हवा और स्वच्छ हवा एक साथ रह ही नहीं सकती। कमरे में हवा रहे ही नहीं, यह तो हो नहीं सकता। गन्दी हवा को निकालने का सबसे अच्छा उपाय एक ही है—सभी खिड़कियाँ और दरवाजे खोल कर स्वच्छ हवा को अन्दर आने देना।

अवगुणों को भगाने का सब से अच्छा उपाय सद्गुणों को अपनाना है।

ऐसी बातें पढ़ सुन कर हर आदमी यही कहता सुनाई देता है, जो किसी समय बिचारे दुर्योधन के मुँह से निकली थी :

'धर्म' जानता हूँ, उसमें प्रवृत्ति नहीं।

'अधर्म' जानता हूँ, उसमें निवृत्ति नहीं।

एक दूसरे आदमी में कुटेव पड़ गई—सिगरेट पीने की ही सही। अत्यधिक सिनेमा देखने की ही सही। बिचारा बहुत संकल्प करता है, बहुत कसमें खाता है, कि अब सिगरेट नहीं पीऊंगा, अब सिनेमा देखने न जाऊंगा, किन्तु समय आने पर जैसे आप ही आप उसके हाथ सिगरेट तक पहुंच जाते हैं, और सिगरेट उस के मुँह तक। बिचारे के पांव सिनेमा की ओर जैसे आप ही आप बढ़े चले जाते हैं।

क्या सिगरेट न पीने का और सिनेमा न जाने का उसका संकल्प सच्चा नहीं, क्या उसने झूठी कसमें खाई हैं? क्या उस के संकल्प की दृढ़ता में कमी है? नहीं, उसका संकल्प तो उतना ही दृढ़ है जितना किसी का भी हो सकता है। तब उसे बार बार असफलता क्यों होती है? होती है और बार बार होती है।

इस 'असफलता' का कारण और 'सफलता' का रहस्य कदाचित इस एक ही उदाहरण से समझ में आ जाय।

जमीन पर एक छः इंच या एक फुट चौड़ा-लम्बा लकड़ी का तख्ता रखा है। यदि आप से उस पर चलने के लिये कहा जाय तो क्या आप चल सकेंगे? क्यों नहीं? बड़ी आसानी से। अब इसी तख्ते के एक सिरे को किसी मकान की छत पर रख दिया जाय और शेष तख्ते को यूँही खुले आकाश में आगे बढ़ा दिया जाय और तब आप से उसी तख्ते पर चलने के लिये कहा जाय तो, क्या आप तब भी चल सकेंगे? डर लगेगा। नहीं चल सकेंगे।

कोई पूछे, क्यों ! आप इस के अनेक कारण बताएंगे, सच्चा कारण एक ही है। आप नहीं चल सकते, क्योंकि आप समझते हैं कि आप नहीं चल सकते।

यदि आप आज यह विश्वास कर लें कि आप चल सकते हैं और उसी लकड़ी के तख्ते को थोड़ा थोड़ा जमीन से ऊपर उठाते हुए इसी पर चलने का अभ्यास करें, तो आप उस पर बड़े आराम से चल सकेंगे। सरकस वाले चलते चलते तारों पर कैसे चल लेते हैं ! बस ऐसे ही चल लेते हैं। वे विश्वास करते हैं कि वे चल सकते हैं और तदनुसार अभ्यास करते हैं। वे चल ही लेते हैं।

यदि आप किसी अवगुण को दूर करना चाहते हैं तो उस से दूर दूर रहने का दृढ़ संकल्प करना छोड़ दीजिये, क्योंकि जब आप उस से दूर रहने की कस्में खाते हैं, तब भी आप उसी का चिन्तन करते हैं। चोरी न करने का संकल्प भी चोरी ही का संकल्प है। पक्ष में न सही, विपक्ष में सही, है तो चोरी के ही बारे में। 'चोरी' न करने की इच्छा रखने वाले को चोरी के सम्बन्ध में कोई संकल्प-विकल्प ही न करना चाहिये।

यदि आप अपने संकल्प-विकल्पों द्वारा अपने अवगुणों को बलवान न बनायें तो हमारे अवगुण अपनी मौत आप मर जायेंगे।

हमें अपने संकल्प-विकल्पों द्वारा अपने सद्गुणों को बलवान बनाने की आवश्यकता है।

यदि आप की प्रकृति 'चंचल' है, आप अपने 'गंभीर स्वरूप' की 'भावना' करें। यथावकाश अपने मन में अपने 'गम्भीर स्वरूप' का चित्र देखें। अचिरकाल में ही आपकी प्रकृति बदल जायगी।

यदि आप की प्रकृति 'अस्वस्थ' है, आप अपने ही 'स्वस्थ स्वरूप' की 'भावना' करें। यथावकाश अपने मन में अपने 'स्वस्थ-स्वरूप' का चित्र देखें। अचिरकाल में ही आप की प्रकृति बदल जायगी।

यदि आप की प्रकृति 'अशांत' है, आप अपने ही 'शांत स्वरूप' की 'भावना' करें। यथावकाश अपने मन में अपने 'शांत स्वरूप' का चित्र देखें अचिरकाल में ही आप की प्रकृति बदल जायगी।

शायद आपको 'गम्भीरता' 'स्वास्थ्य' 'शांति' की उतनी आवश्यकता ही नहीं जितनी दूसरी लौकिक चीजों की।

उन लौकिक चीजों की प्राप्ति में भी यह नियम निश्चयात्मक रूप से सहायक होगा, किन्तु निर्णायिक नहीं।

संसार में प्रत्येक कार्य अनेक कारणों से होते हैं। यदि दूसरे कारण एकदम प्रतिकूल हों तो अकेली भावना क्या करेगी? कोई तरुण अपना शरीर बलवान बनाना चाहता है, खान-पान के साधारण नियमों का खयाल नहीं करता, स्वच्छ हवा में नहीं सोता, व्यायाम नहीं करता, केवल भावना के ही बलपर बलवान होना चाहता है। यह असम्भव है।

भावना अपना काम करती है, किन्तु अकेली भावना खाने, पीने, स्वच्छ हवा और व्यायाम सभी की जगह भावना नहीं ले सकती।

जो बलवान बनाने की सच्ची भावना करेगा वह अपने खान, पान, स्वच्छ वायु और व्यायाम की भी चिन्ता क्यों न करेगा?

इन अर्थों में भावना को सर्वार्थ-साधिकार कहा जा सकता है।

सब भावनाओं में सुदृढ़ भावना एक ही है, जिसे जैन, बौद्ध, हिन्दू सभी ने अपने अपने धर्म ग्रन्थों में स्थान दिया है :

सभी के प्रति मैत्री, गुणियों के प्रति प्रमुदता,
दुखियों के प्रति दया, दुष्टों के प्रति उपेक्षा।

सचमुच इस से चढ़ कर 'ब्रह्म-विहार' की कल्पना नहीं की जा सकती।

: १० :

इन भूतनि मोहि नाच नचायो

राजमल ललवानी

सब की बात मैं नहीं जानता। मुझे तो बचपन में भूत-पिशाचों की कहानियाँ सुनने का बहुत बार मौका मिला है। उनकी चमत्कारिक कहानियाँ सुन-सुनकर कभी-कभी तो उन्हें देखने और उन से बातें करने की भी इच्छा हो जाती थी। और सच मानिये, मैं इन कहानियों के भूतों को आदमी के रूप में, शकल में नहीं मानता था। मेरी उत्सुकता बढ़ती और कभी-कभी तो कल्पना करने लगता कि घर की दीवालों में, छेदों में भी भूत रहते होंगे। अंधेरे में सूं-सूं की जो आवाज़ मेरे कानों में पड़ती उस से मुझे नींद नहीं आती और मैं डर जाया करता था। इस डर का कारण भूत के अस्तित्व की कल्पना होती। लेकिन अफ़सोस कि ऐसे भूत मुझे अब तक नहीं मिले। इसलिए जैसे-जैसे मैं बड़ा होता गया, भूत पर से मेरा विश्वास उठता गया। जब कभी सुनता कि फलाँ स्त्री या पुरुष के शरीर में भूत है और दुख देता है या किसी को उसके दर्शन हुए हैं, तो मैं हँस देता और कहने वाले की मूढ़ता प्रकट करता।

लेकिन आज मुझ पर ही अनेक भूतों और भूतनियों का प्रभाव स्थापित हो गया है। बड़े अचरज़ में हूँ कि यह सब कैसे हो गया! जानता हूँ कि यह सब भूत हैं और दुख देते हैं, फिर भी उनसे अपने को दूर नहीं कर पा रहा हूँ। इलाज का भी प्रयत्न किया, लेकिन इन भूतों की दवा तो, सुनता हूँ यमराज के दरबार में भी नहीं है। शायद दूसरे लोग भी मेरे समान ही इन भूतों के शिकार हों। मैं तो बड़ा दुखी हूँ। आदमी दुख अकेला नहीं भुगतना चाहता। उसे तो वह

बाँटना चाहता है। आप हिस्सेदार नहीं बनें, तो भी आप के दुख में मैं तो साझीदार बन ही सकता हूँ और मैं ही आपको अपने दुख में साझीदार मान लूँ तो क्या बनने-बिगड़ने वाला है? तो, सुनिए मेरे भूतों की राम कहानी।

मेरा बचपन गरीबी में बीता था। इसलिए मैं समझने लगा कि बिना मेहनत-मजदूरी के दो जून खाना भी नहीं मिल सकेगा। लेकिन भाग्य मेरा (यह सौभाग्य है या दुर्भाग्य, कौन जाने) कि मैं गरीबी को ठोकर मारकर अमीरी की गोद में जा बैठा। श्रम करने की आदत तो थी, लेकिन धनवान का बेटा होकर श्रम करूँ—यह कैसे हो सकता था। मेरी इच्छा होती कि मैं श्रम करूँ, लेकिन मुझे कहा जाता कैसा मूर्ख है! ऐसा करने से अपनी इज्जत कम होती है। मैंने सोचा, चलो दोनों हाथ लड्डू हैं। श्रम से बचूँगा और इज्जत भी बढ़ेगी। धीरे-धीरे हालत यहाँ तक बढ़ गई कि नहाते समय साबुन लगाने के लिए भी एक आदमी मेरे साथ रहता। अब क्या था, आलस और प्रमाद मुझपर पूरी तरह हावी हो गये। पहले तो मुझे कुछ भी नहीं लगा, बल्कि आनन्द हुआ कि देखो मेरी सेवा हो रही है। लेकिन अब तो अनुभव हो रहा है कि वह आलस का प्रलोभन था, अपनी सेवा कराने के लिए। आज सचमुच यह आलस रूपी भूत मुझ से सेवा ले रहा है।

मैं बचपन में ज्यादा नहीं पढ़ सका। पढ़ने के साधन भी नहीं थे। भगवान जाने मुझ में अक्ल नाम की कोई चीज थी भी या नहीं, लेकिन धनी-परिवार का अंग बन जानेपर तो मेरी बुद्धि की प्रशंसा के पुल बांधे जाने लगे। इस तरह 'ठोक पीटकर' तो नहीं 'प्रेम और प्रशंसा की थपकियों' से बुद्धिमान बना दिया गया। सेठजी के पास आनेवाले मेरी प्रशंसा अपने स्वार्थ-वश करते थे कि सेठजी का पद लेनेपर मेरी दृष्टि उनपर कृपा पूर्ण रहे। साथी भी मेरी प्रशंसा करते। धीरे-धीरे मुझे ऐसा लगने

लगा कि मैं जो करता और कहता हूँ वही ठीक है। इसतरह मेरे भीतर अहंकार बढ़ने लगा। यह अहंकार रूपी भूत मेरे इतना पीछे पड़ गया है कि कई बार पछाड़ खा कर गिर चुका हूँ। मैं कोशिश करता हूँ कि इस के पंजे से छूट जाऊँ, लेकिन कुछ नहीं। छटपटाकर रह जाता हूँ। सचमुच इस से मैं बड़े कष्ट में हूँ।

गरीबी के कारण माता-पिता अच्छी तरह पढ़ाने में असमर्थ थे। मैं बरार में अपने एक सम्बन्धी के यहाँ रहकर पढ़ने लगा। व्यावहारिक कुशलता इसी में है कि जितना खाने-पहनने को दिया जाय उस से कुछ अधिक काम तो लिया ही जाय। मुझसे पूरा काम लिया जाता। मेरा बहुत-सा समय तो पानी भरने, कण्डे थापने, झाड़ू देने में चला जाता। बचपन में खेल सब को प्यारे लगते हैं, लेकिन मेरे पास समय और साधन कहाँ था? एक दिन कुछ बच्चे गोलियाँ खेल रहे थे। मैं स्कूल से लौट रहा था। देखकर इच्छा हुई कि अपने को भी गोलियाँ चाहिए। लेकिन पैसा? नहीं, तो यही उठाकर भाग चलो! उस वक्त मुझे ये पत्थर की गोलियाँ सोने-चांदी से भी अधिक कीमती लग रही थीं। मैं उठाकर बेतहाशा भागा, भागा और घर में जा कर छुप गया। लड़कों ने पीछा किया और घर में कह दिया। अब क्या था। बे-भाव पिटाई हुई। इस घटना की याद कर के आज भी सिहर जाता हूँ। उस समय मेरे दिल में आया कि यदि मुझे कोई सौ रुपया भी दे दे तो मैं दूकान कर के मजे में रहूँ। लेकिन कुछ समय बाद तो मैं लाखों का मालिक बन गया। अब तो संतोष मानना चाहिए था। लेकिन लोभ बढ़ता ही गया। इस लोभ और इच्छा रूपी भूत ने इस तरह फँसा रखा है कि मुँह खोलने पर दुख होता है, नहीं खोलूँ तो भी दुख होता है।

बचपन में अपने ऊपर क्रोध करने वालों पर मुझे दुख होता था कि ये कैसे लोग हैं जो मुझे नाहक पीड़ा देते हैं और खुद दुखी बनते हैं।

लेकिन आज तो मैं स्वयं क्रोध के अधीन हूँ। मुझे खयाल ही नहीं होता कि मैं जिन लोगों पर क्रोध करता हूँ वे क्या समझते होंगे। जब मुझे क्रोध आता है तब एकदम अविचारी बन जाता हूँ। बाद में पश्चात्ताप भी होता है, पर यह तो भूत है न। जब चढ़ता है तो सारी सुध-बुध भुला देता है।

यही हाल भूख, निद्रा, चिन्ता आदि भूतनियों का है। भूख लगती है तो कुछ खा लेता हूँ, नींद आती है तो सो लेता हूँ और चिंता को कुछ पढ़ने से हटा देता हूँ। लेकिन, आठ घंटे भी नहीं बीत पाते कि फिर भूख और नींद का दौर शुरू हो जाता है। बात-बात में चिंता मुँह फाड़ने लगती है।

इस तरह आपको क्या-क्या गिनाऊँ। इन भूतों ने मुझे इतने तरह-तरह के नाच नचाए कि मैं भी नहीं जानता। रात-दिन और सब के जीवन में इन भूतों का खेल चलता रहता है। मैंने देखा तो नहीं है, पर यदि कहीं किसी कोने में भूतों का शत्रु भगवान् लुक छिपकर बैठा हो तो, मैं विनम्र श्रद्धा के साथ, अपने मन में प्रार्थना करता हूँ कि हे मेरे देवता! मुझे इन के फन्दे से छुड़ा ले।

"**इन भूतनि मोहि नाच नचायो।**" ही गुनगुनाता हूँ मैं तो। लेकिन, 'सब चोर मौसेरे भाई' की इस दुनियां में कौन मेरी प्रार्थना सुनेगा। यमराज भी मेरा ही इलाज करेंगे, भूतों के बाप का क्या बिगड़ने वाला है।

फिर सोचकर चुप हो जाता हूँ—अरे बाबा, यह सृष्टि ही 'भूतों' का पुंज है और 'भूतों' में ही मिल जाना है।

तो, ले बाबा, जिन्हें नचाना हो नचाए। वे जीते, हम हारे। झगड़ा शांत। दुनिया चली, चल रही और चलेगी।

क्या समझदार पाठक इन भूतों को दूर करने की कोई राम-बाण दवा बता सकेंगे?

: ११ :

समाज सेवा (१)

रिषभदास रांका

एक पुराने कार्यकर्त्ता तथा अनुभवी सज्जन के पास जब असंग्रह-नीति के आधार पर कार्य चलाने की योजना भेजी गई तब उसपर अपना मत-भेद प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा : "ध्रुवकोष के बिना कोई भी संस्था स्थिर होकर स्थायी काम नहीं कर सकती। इस लिए संस्था को मजबूत बनाने के लिए संग्रह करना आवश्यक है। इसके बाद ही कोई कार्य किया जा सकता है।"

सेवा मनोरंजन की वस्तु

गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि जन-सेवा मानकर जो कार्य हम करते हैं, उसमें सेवा की अपेक्षा कुसेवा ही अधिक होती है या कोई सेवा ही नहीं होती। सच तो यह है कि जिस काम में हमारी रुचि होती है और जो सहज-साध्य होता है, जिससे सहज में नाम और यश मिल सकता है और आनन्द भी मिल सकता है उसे ही हम सेवा का कार्य समझते हैं और समझ लेते हैं कि इसके बिना समाज की भलाई या उन्नति हो ही नहीं सकती। समाज में चलनेवाली प्रवृत्तियों में से अधिकांश ऐसी ही हैं जो खा-पीकर चैन से रहने वालों के मनोविनोद की सामग्री हैं। ये लोग घर में या ऑफिस में बैठकर बड़ी-बड़ी रिपोर्टें अवश्य बनाया करते हैं लेकिन शायद ही किसी पड़ोसी सहधर्मी से उनका सम्बन्ध रहता है। जैन-धर्म की रक्षा और प्रचार के नाम पर प्रतिवर्ष लाखों और करोड़ों का खर्च होता है, लेकिन शायद ही कोई बता सके कि जैनों की संख्या में कितनी वृद्धि हुई है और धर्म की रक्षा किस प्रमाण में हो सकी है। बल्कि समीक्ष

कार्यकर्त्ता अपनी असफलता ही प्रकट करते हैं। ऐसे लोगों के मनोविनोद या ऑफिशियल प्रचार को कोई समाज-सेवा कहना चाहे तो वह कह सकता है। परन्तु वास्तव में वह समाज-सेवा नहीं है, बल्कि एक बोझ है जो समाज के लिए असह्य है।

सेवा बनाम चंदा

सर्व-साधारण जनता का जीवन इस समय कठिन बनता जा रहा है। महंगाई के कारण जीवनोपयोगी वस्तुओं का मिलना मुश्किल हो रहा है। बहुत-से लोग ऐसे भी हैं जिन्हें दोनों वक्त पेट-भर भोजन भी नहीं मिल पाता। उन्हें बाल-बच्चों की शिक्षा, बीमारी तथा विवाह-शादियों के अवसर पर कितनी दिक्कतें उठानी पड़ती हैं, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। लेकिन समाज-सेवा का दम भरनेवाले सुखी लोग आध्यात्मिकता के महत्त्व पर मार्मिक भाषणों द्वारा धन की असारता बताकर चन्दा एकत्र करने में सेवा की सार्थकता समझने लगते हैं। समाचार-पत्र निकाला तो चन्दा, संस्था का अधिवेशन होनेवाला है तो चन्दा, ब्रह्मचर्याश्रम खोलना है तो चन्दा। इस तरह न जाने कितने कामों के लिए चन्दा एकत्र किया जाता है। चन्दा एकत्र करने वाले उन्हीं के पास पहुँचते हैं जो खा-पीकर सुखी होते हैं और मानते हैं कि पैसा दे करके वे समाज-सेवा करते हैं। देनेवाले इसलिए देते हैं कि घर बैठे वे समाज-सेवक कहला सकते हैं, अखबारों में उनके चित्र छप सकते हैं, भवन की दीवालपर उनका स्मरण-लेख जड़ा जा सकता है, सभा-मंचोंपर उन्हें मसनद और मान-पत्र मिल सकते हैं, पदवियाँ मिल सकती हैं। इस तरह सेवा का 'व्यापार' चलता रहता है। वास्तव में देखा जाय तो बहुसंख्यक निर्धनों की उपेक्षा कर सेवा के नाम पर जो प्रदर्शन होता है उसे हिंसा ही कहा जा सकता है। अधिवेशन में सभापति के स्वागत में, मंच-निर्माण में हजारों रुपया खर्च करके शान और व्यवस्था की बड़ाई भले ही की जाय, उसे सेवा तो नहीं कहा जा सकता।

सफलता का आधार कोष

दान का भी महत्त्व है और उसका निषेध नहीं हो सकता। लेकिन सच्चा दान तो वही हो सकता है जो काम की उपयोगिता देखकर स्वेच्छा पूर्वक दिया जाता है। और उसकी सार्थकता इसी में है कि जिस काम के लिए वह मिला है, उस में खर्च हो। लेकिन आज की स्थिति दूसरी है। वह संस्था असफल मानी जाती है जिसके पास फंड नहीं होता। वह कार्यकर्ता अकुशल माना जाता है जो संस्था को फंड एकत्रित करके नहीं दे सकता। कई संस्थाओं के पद उन चतुर व्याख्याताओं के लिए सुरक्षित रहते हैं जो जनता की भावनाओं को उत्तेजित कर दाताओं का गुण-गान कर, उन्हें महान् बताकर फंड जमा करने में कुशल होते हैं। और उन फंडों का उपयोग प्रायः ऐसे साहित्य के निर्माण में होता है जो संस्था की, कार्यकर्त्ताओं की और दाताओं की प्रशंसा के लिए लिखा होता है। देखा गया है कि फंड एकत्रित होने के बाद वहाँ स्वार्थ और ईर्षा का बाजार गर्म हो जाता है और सेवा के स्थानपर झगड़े होते हैं।

सेवा का स्वरूप

मनुष्य का जीवन समाज के उपकारों से बनता और बढता है। समाज से यदि मनुष्य को कुछ न मिले तो वह जीवित नहीं रह सकता। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह भी समाज को कुछ दे। इस पारस्परिक आदान-प्रदान के बिना किसी का काम नहीं चल सकता। कोई मनुष्य समाज से केवल लेता ही लेता रहे तो समाज-व्यवस्था बिगड़ जायगी। पिता बच्चे के लिए कुछ करता है तो एक समय बच्चे को भी पिता के लिए कुछ करना आवश्यक है और यही सच्ची सेवा होगी। लेकिन ऐसी सेवा में किसी प्रकार की आसक्ति रखना सेवा के लिए बाधक है। निःस्वार्थ सेवा का फल अवश्य मिलेगा, और वह अधिक मधुर होगा। पिता यदि बच्चे से कहे कि मैंने बुढ़ापे में अपनी सेवा के लिए तुझे पाल-

पोसकर बड़ा किया है तो शायद पुत्र भी कुछ अनुचित उत्तर दे सकता है जो दोनों के लिए हानि-प्रद बन जावेगा। भविष्य तो निराश हो ही जायगा—किए-कराए पर पानी भी फिर जायगा। इसलिए सेवा का यथार्थ स्वरूप तो यही हो सकता है कि निःस्वार्थ भाव से यथा-शक्ति आवश्यकतानुसार अपना सहयोग दिया जाय। सेवा स्वभाव बनकर ही सार्थक हो सकती है। अभिमान और अहंकार बनकर तो वह कलंक ही हो सकती है। सेवा करने वाले के लिए सेवा के कई नए नए क्षेत्र अपने आप उपस्थित हो जाते हैं। उसे संस्था स्थापित करने की, उसके लिए धन एकत्रित करने की या सेवा के विज्ञापन की जरूरत नहीं रहती। उसके सामने जो काम आ जाता है उसे वह सहज भाव से कर देता है।

सेवक का धर्म

सच्चा सेवक फल की या प्रतिसेवा की आशा नहीं रखता। वह इसकी भी चिन्ता नहीं रखता कि उसका काम छोटा है या बड़ा, तुच्छ है या महान्, गरीब का है या धनवान का, शूद्र का है या ब्राह्मण का। न वह आज्ञा और आदेश पर चलता है। उसके लिए ऑफिस, टेबल, हिसाब-किताब, रिपोर्ट और भाषण, स्वागत और स्टेज कोई महत्त्व नहीं रखते। कोई बीमार दीखा तो दवा ला देगा, खिला-पिला देगा। अन-पढ़ दीखा तो पढ़ा देगा। कोई भूखा दीखा तो पास में होनेपर खाने को दे देगा। कोई बेकार हो तो उसे काम सिखा कर उद्योग में लगा देगा। इस तरह एक नहीं, हजारों सेवा के काम उसे अपने आप सूझ पड़ेंगे और वह करता चला जायगा। अपनी शक्ति और साधनों का वह यथोचित उपयोग करेगा। उसकी सामर्थ्य से बाहर काम होगा तो उसके प्रति सद्भावना रखेगा और चुप रहेगा। उसे नाम, काम और दाम का मोह नहीं होगा। उसकी सेवा छिपी नहीं रह सकेगी। जनता उसे साधन जुटा देगी और वह अपना काम करता चला जायगा। साधनों के अभाव में न वह दुःख प्रकट करेगा, न विज्ञापन करेगा, न समाज को दोष देगा।

दक्षिण के भाई और सेवक

यहाँपर कुछ उदाहरण देना उचित होगा। जैन समाज में गरीब और बेकारों की संख्या कम नहीं है। उत्तर की अपेक्षा दक्षिण के भाई बहुत गरीब हैं और उन्हें खेती और दूसरी मजदूरी करके भी भरपेट खाने को और शरीरपर ओढ़ने को खाना-कपड़ा नहीं मिलता। शायद हमारे अधिकांश उत्तरीय सेवकों को उनका पता भी नहीं है। और बहुत से तो उन्हें गरीबी के कारण जैन भी नहीं मानेंगे। वे आर्थिक संकट के कारण बच्चे की छात्रवृत्ति के लिए यदि अपने को पिछड़ी जाति में लिखाकर सुविधा प्राप्त कर लें तो उनका ऐसा करना कई लोगों को समाज के गौरव को हानि पहुँचाने वाला मालूम देगा और संपन्न लोग अपने समाज को भले ही प्रगतिशील माने, परन्तु अपनी गौरव-गाथा गाने में लाखों रुपए खर्च करने वालों ने इन दीन-हीन भाइयों को कभी फूटी आंखों भी चाहा है? कभी उनकी स्थिति का निरीक्षण किया है? क्या उनका जीवन-स्तर ऊंचा उठाने के लिए वे प्रयत्नशील हैं? किसी के धर्म-परिवर्तन करने पर या रूढ़ि विरूद्ध कार्य करनेपर आन्दोलन मचाने वाले या जाति बहिष्कृत करनेवाले कभी उनकी स्थिति और आवश्यकता पर विचार करते हैं? उत्तर स्पष्ट है; और यही कारण है कि प्रति वर्ष लाखों-करोड़ों रुपए खर्च होनेपर तथा करोड़ों के फंड होनेपर भी सामाजिक उन्नति के कोई चिन्ह दिखाई नहीं देते।

भिखारी नहीं, योग्य मनुष्य बनाओ

किसी को दया-वश कुछ सहायता देने को कोई भले ही उपकार मान ले, लेकिन यह बहुत बड़ा पाप है। जिसे सहायता मिलती है उसका विकास रुक जाता है और उसमें हीन-भाव निर्माण हो जाता है। यदि धन-प्रिय समाज-सेवक यथार्थ में समाज की सेवा करना चाहते हैं तो उन्हें संस्था, फंड, नाम और यश का मोह छोड़कर ऐसा काम करना चाहिए जिससे समाज की शक्ति और योग्यता का विकास हो। उन्हें पारसी समाज

का अनुकरण करना चाहिए। लाखों रुपया कमानेवाले व्यापारी यदि अपने कारखानों में कुछ भाइयों को रखकर उन्हें योग्य बनावें, विद्वान यदि कुछ विद्यार्थियों को अपने पास रखें तो लाखों-करोड़ों के फण्डों की अपेक्षा यह कई गुनी उपयोगी सेवा हो सकती है। ऐसी सेवा करनेवाले न समाज-भूषण और दानवीर कहलायेंगे, न उनके मानपत्रों और जीवन चरित्रों में कागज और स्याही बर्बाद होगी।

कार्यकर्ताओं से

ऊपर जो कुछ लिखा है, वह दूसरों को उपदेश देने के लिए नहीं, अपने कार्यकर्त्ताओं को सोचने के लिए है। दूसरों की निन्दा-टीका न करते हुए सेवा की भावना से ही यथा-शक्ति अपने तन-मन से सेवा करते रहें ऐसी अपेक्षा करना अनुचित नहीं है। हम लोगों ने यदि यह किया तो बिना ध्रुव फंड के भी हमारी संस्था बहुत कुछ कर सकेगी। यह मेरा दृढ़ विश्वास है और यह मैं अपने अनुभव से कहता हूँ। नीचे कतिपय घटनाओं में से एक अपने कार्यकर्त्ताओं के सन्मुख रखता हूँ। इससे वे जान सकेंगे कि हमारी प्रामाणिकता और सच्ची सेवा ही बड़ा धन है। और उसके लिए समाज के सजीव फंड (हृदय) की हमें कमी नहीं पड़ेगी।

पैसा नहीं बचा था

अक्टूबर'४९ की बात है। जैन जगत के लिए मंडल के पास एक पैसा भी नहीं बचा। २८ अक्टूबर को कार्यकारिणी की बैठक में हिसाब बताते हुए भाई जमनालालजी ने अपनी स्थिति और परेशानी व्यक्त की। सचमुच बात परेशानी की ही थी लेकिन मैं निश्चिन्त था। मुझे पूरा विश्वास था और है कि यदि हमारा काम सच्चा है और समाज के लिए उसका उपयोग है तो वह धन के अभाव में रुक नहीं सकता। कहीं-न-कहीं से उसे सहायता मिलेगी और काम चलेगा। और ऐसा ही हुआ। ये क्षण कसौटी

के थे। जो इसमें खरा उतर जाय उसका सब साथ देंगे। मैंने जमना-लालजी से साफ कह दिया कि "यदि समाज के लिए हमारा काम अनुपयोगी होगा तो वह अपने आप बन्द हो जायगा। तब हमें अपने को परखने का अवसर मिलेगा। अतः इसमें दुख या आनन्द मानने जैसी कोई बात नहीं है।" 'जैन जगत' को सहायता मिली और ऐसी अमूल्य सहायता मिली जिसकी लाखों के दान से तुलना नहीं की जा सकती।

श्री रामदयाल सिंहल की सहायता

वर्धा का ऐसा कोई व्यक्ति और विद्यार्थी नहीं जो सिंहल मास्टर को नहीं जानता। रामदयालजी को भले ही इने-गिने जानते हों परंतु सिंहल मास्टर को तो आप हरेक के मुँह पर पा सकते हैं। व्यक्तित्व आकर्षक नहीं, पर चेहरे पर आलस और प्रमाद की सिकुड़न भी नहीं। यों परिश्रम कब गोरा रहने देता है, जो उनपर दया करता। व्यवसाय की भाषा में उनकी योग्यता का माप यदि पूंजी से कोई करना चाहे तो कहा जा सकता है कि वे परिश्रम के धनी हैं। किन्तु केवल परिश्रम पूंजी नहीं होती, उसमें सहृदयता और सहयोग-भावना का जबतक संमिश्रण नहीं होगा, वह पूंजी किसी काम की नहीं। सतत परिश्रम से वे अपनी गृहस्थी चलाते हैं। जो अध्यापक हैं वे अपनी कठिनाइयों को जानते हैं और जिम्मेवारी को समझते हैं। किंतु जो इसका निर्वाह करते हुए चाहे जिसके यहां आवश्यकता पड़ने पर सेवा के लिए उपस्थित रह सकते हैं, उनकी स्थिति की केवल कल्पना ही की जा सकती है। ऐसा व्यक्ति थोड़ा-बहुत कमाकर पारिवारिक निर्वाह भले ही करे और खा-पीकर सुखी भी रहे, पर धन-संचय तो वह नहीं कर सकता। मैं मानता हूँ कि संग्रह के बाद ही दान का या त्याग का अहंकार जाग्रत होता है और जिस असंग्रह में से दान और त्याग निपजता है वह सच्ची सेवा का प्रतीत होता है। मास्टर

सिंहल यदि दो महीने खाली बैठे रहें तो संभव है कि परिवार उन्हें आर्थिक चिंता में डाल देगा। ऐसी स्थिति में अन्तःकरण से जो उद्‌गार और द्रव्य निकलता है उसका मूल्य अंकों में नहीं आंका जा सकता। मास्टर साहब वैष्णव हैं, उनका जैनधर्म के प्रति विशेष आकर्षण और संपर्क नहीं है, आदर हो सकता है। फिर भी वे जैनजगत के नियमित पाठक रहे हैं। उन्हें उस से स्वाभाविक प्रेम हो गया है; यों हम स्वयं नहीं जानते कि जैन जगत द्वारा भिन्न रूप में नाम-विशेष के धर्म और उसके अनुयायियों की कितनी सेवा कर पाते हैं, किन्तु अजैनों में भी कुछ नियमित पाठक उसकी बाट जोहा करते हैं।

उस समय पैसा तो हमारे पास था ही नहीं और कर्ज लेकर सेवा-कार्य चलाना भी उचित नहीं जँच रहा था। नाव डगमगा रही थी। इतने में एक दिन मास्टर साहब आए और उन्होंने कहा : "मैं जैनजगत को एक सौ एक रुपया सहायता देना चाहता हूँ।" सचमुच मैं तो दंग रह गया। कुछ क्षण मैं उनके चेहरे में अपने को पढ़ने लगा। मैंने कहा : "आप यह क्या कर रहे हैं मास्टर साहब!" क्यों कि मेरे आगे उन की स्थिति, धर्म भिन्नता और अपने कार्य की अनिश्चितता का चित्र स्पष्ट था। किसी करोड़पति के लाख रुपए लेकर प्रदर्शन और दिखावे में खर्च कर देना यदि बुरा नहीं माना जावेगा तो कम-से-कम इस पैसे का यदि सदुपयोग नहीं हुआ तो वह किसी पाप से कम न होगा। इसे मैं जानता था।

बड़े असमंजस और संकोच में डूबा था मैं। मांगने जाने को तो मृत्यु के समान कहा गया है, लेकिन लाकर देने वाले के पुण्य में बाधक कैसे हुआ जाय! कैसे भी नहीं बनता था। उन्होंने चेक मेरे आगे सरका ही तो दिया।

जिस संस्था के पास एक पैसा भी नहीं था और जिसके एक एक अंक में तीन-चार सौ रुपयों का खर्च हो जाता है उसके लिए १०१) कितने दिन के। और इनसे होना-जाना क्या था। लेकिन नहीं, इन रुपयों के विषय में ऐसा नहीं सोचा जा सकता। इन रुपयोंने हमें एक नई प्रेरणा और नया प्रकाश दिया, उत्साह और आशा दी कि फिर यह काम रुक ही नहीं सका। इन एक सौ एक रुपयों को हम नींव का पत्थर मानते हैं। इस के बाद तो हमें द्रव्य का अभाव रहा ही नहीं। हमें विश्वास हो गया कि संस्था बिना ध्रुव-फण्ड के भी अपना कार्य कर सकेगी।

परिश्रम की कमाई में से निकला दान पवित्र होता है और उसका वैसा ही उपयोग करने की जिम्मेवारी कार्यकर्त्ता पर आती है। ऐसे पैसे का तनिक-सा दुरुपयोग महान् पाप है।

उपर्युक्त घटना से पाठक जान सकेंगे कि अच्छे कार्यों के लिए द्रव्य तथा दाताओं का अभाव नहीं है, उस द्रव्य का सदुपयोग करने वालों के अभाव में ही संस्थाएँ पैसा बटोरने में लग जाती हैं।

: १२ :

समाज-सेवा (२)

रिषभदास रांका

अहिंसा की व्यापकता

मैं देवी अहिंसा का सीमित शक्ति वाला एक उपासक और सेवक हूँ। यद्यपि मेरी शक्ति और पात्रता सीमित है तथापि मेरी निष्ठा और आस्था असीम है। मेरा विश्वास है कि जीवन के हर पहलू में और हर क्षण में अहिंसा का उपयोग है और उसी से सारी समस्याएँ सुलझ सकती हैं। अहिंसा से ही मानव-जीवन का विकास हो सकता है। अहिंसा की निष्ठा के कारण ही मैं उसका आचरण कर पाता हूँ। मैं तो आप सब में और भिन्न भिन्न विचार रखनेवाले समाज-सेवकों में भी अपना ही प्रतिबिम्ब देखना चाहता हूँ। क्रूर से क्रूर और हिंस्र से हिंस्र माने जानेवाले प्राणियों में भी अहिंसा का अधिष्ठान रहता है। जिस दिन जगत से अहिंसा उठ जाएगी उस दिन जगत शून्य हो रहेगा। इसलिए मैं यह कहने में असमर्थ हूँ कि अमुक एक विषय या साधन को ही अपनाया जाय।

व्यक्ति का दृष्टिकोण

प्रत्येक व्यक्ति का सेवा का दृष्टिकोण उसकी रुचि, वृत्ति, शक्ति, योग्यता और संस्कार के अनुसार होता है। और अपनी दृष्टि से वह जो कुछ करता है वह सही होनेपर भी दूसरों को स्वीकार होगा ही, यह कहना कठिन है। क्यों कि हम सब का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है। इसीलिए हम सब को खुले दिल से चर्चा कर के अधिकांश लोगोंकी राय जान लेना चाहिए। हमें वही करना है जो समाज के लिए उपयोगी

और आवश्यक हो। एक आदमी की राय सुन्दर और आवश्यक होनेपर भी यदि समाज स्वीकार नहीं करती तो उसका आग्रह रखना लाभ-प्रद नहीं होगा। इस कारण मैं तो मानता हूँ कि किसी भी व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करने का पूरा मौका मिलना चाहिए ताकि समाज की आवश्यकता और उसके साधनों का पता चल सके।

कैसा और कौनसा काम हम हाथ में लें, इसका निर्णय पहले से तो नहीं किया जा सकता, लेकिन हमारी कार्य-पद्धति क्या हो इस बारे में समाज-सेवकों और ज्ञानियों से मैं जो कुछ समझ पाया हूँ उसे सामने रखना आवश्यक प्रतीत होता है।

सेवा उपकार नहीं, कर्त्तव्य है

कई लोगों से बहुत कुछ लेनेपर व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इस तरह समाज का वह ऋणी होता है। समाज से प्राप्त किए हुए उपकारोंको चुकाना सबका कर्त्तव्य है, और इस चुकाने का मतलब प्राप्ति का स्वार्थ नहीं, नैतिकता का उत्तरदायित्व है। इस अर्थ में सेवा उपकार नहीं, एक कर्त्तव्य है। और ऐसा कर्त्तव्य है जिस को किए बिना प्रजा का जीवन ठीक से नहीं चल पाता। जहाँ इस कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा और प्रमाद होता है वहाँ अनेकों दुर्गुण पैदा हो जाते हैं, अव्यवस्था फैल जाती है, समाज का जीवन नर्क बन जाता है। और यह हिंसा है। हिंसा आती ही तब है, जब सेवा उपकार बनती है और उस में अहंकार जागता है। ऐसा आदमी सेवा शब्द की भले ही रक्षा करे, अपनी और समाज की हिंसा से वह मुक्त नहीं हो सकता।

नामवरी सेवा नहीं है

सेवा किसी भी फल की आशा से नहीं की जानी चाहिए। आशा की पूर्ति न होनेपर कार्य के अन्त में निराशा होती है और सेवक अपने

मार्ग से हट जाता है। उसपर इस असफलता की प्रतिक्रिया भी हो सकती है और उसका परिणाम बुरा निकलता है। इसलिए ज्ञानियों का कहना है कि अच्छे कार्यों में भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। आज हमने इस संदेश को भुला दिया है। थोड़ी-सी सेवा करते ही हम में यश की, नाम की, पद-प्रतिष्ठा की लालसा जाग उठती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ऐसे तुच्छ नाम और पद के लिए ही हम लोग कार्य करते हैं। इसे सेवा के क्षेत्र में धोखा कहा गया है। और इससे हमें सावधान रहना चाहिए। तन्दुल की खेती करनेपर घास पर खुश होना यदि पागलपन है तो नाम को ही सेवा का फल मान बैठना भी बुद्धिमानी नहीं है।

नाम और काम

ज्ञानियों ने नाम और यश को अस्थिर और नाशवान माना है। लेकिन लोकैषणा–अच्छा कहलाने की वृत्ति–सब में रहती ही है। और यह स्वाभाविक है। इसे जबर्दस्ती दूर भी नहीं किया जा सकता। जबर्दस्ती से की जानेवाली चीज हार्दिक न होने के कारण स्थायी और जीवन–व्यवहार की नहीं हो पाती। फिर भी नाम के लोभ में हम लोग काम को एकदम भूले जा रहे हैं अथवा नाम को ही काम मान बैठे हैं। समाज–सेवा का व्रत लेकर निकलने वाले अखबारों में जब नाम और दाम की स्तुति पढ़ने में आती है तब सहज ही ध्यान में आता है कि आज वास्तविक काम क्या रह गया है। हमें सोचना है कि काम और नाम में कौन उपयोगी है और दोनों का क्या महत्त्व है, अथवा किसका स्थान है।

व्यष्टि हित में समष्टि हित

प्रायः देखा जाता है कि लोग सेवा या भलाई की जिम्मेदारी दूसरों-पर डालते रहते हैं। सोचने, बोलने और लिखने में कोई किसी से कम नहीं होता। हम यह मानकर चलते हैं कि उपदेश की दूसरोंको जरूरत है और उन्हीं का 'सुधार' भी करना है। यह हमारे धर्म से बिल्कुल उल्टी

बात है। हम जिस धर्म के अनुयायी हैं उसमें तो अपने ही उद्धार या कल्याण को अधिक महत्त्व दिया गया है। दूसरों की अपेक्षा अपने आपको जीतना बड़ी बात है। जिनेश्वर को हम इसीलिए भगवान् कहते हैं कि वे अपने आप पर विजय प्राप्त करते हैं। मुझे सन्देह है कि हम भगवान का रास्ता छोड़कर कहीं शैतान के रास्तेपर तो नहीं बढ़ रहे हैं? हम यदि अपना सुधार करलें और जीवन में सचाई ले आवें तो अपने आप समाज का सुधार हो जावेगा। व्यष्टि-हित में ही समष्टि-हित समाया हुआ है। मैं समझता हूँ हमारी सारी उलझनें इसीलिए हैं कि हम स्वयं कुछ न कर दूसरों से अपेक्षा रखते हैं।

उपदेश देना नास्तिकता है

संसार में ज्ञान की कमी नहीं है। आत्मा प्रत्येक में है। आत्मा का लक्षण ही ज्ञान और चेतना है। बाहर से भले ही तुलना में एक-दूसरे के ज्ञान में भिन्नता या न्यूनाधिकता दिखती हो; किन्तु आत्म-विकास के लिए सब में पर्याप्त ज्ञान रहता है। इसलिए मैं तो मानता हूँ कि दूसरे को उपदेश करना नास्तिकता है अथवा आत्मा के अस्तित्व में अविश्वास करना है। एक साधक या विकास मार्ग का पथिक किसी से अनुभव तो पूछ सकता है, लेकिन अपने विकास का मार्ग जितना स्पष्ट उसे दिखता है, उतना दूसरे को नहीं। इसलिए महान् आत्माएँ कभी यह नहीं कहतीं कि अमुक मार्ग से ही चलो। उनका काम विवेक को जगा देना होता है और शक्ति से परिचित करा देना। ज्ञानियों ने कहा है कि दूसरों को करने के लिए कहने की चिन्ता रखने की अपेक्षा सेवकों को अपने करने की चिन्ता रखनी चाहिए। दूसरों को उपदेश देना मोह ही है। उस से हमें टलना चाहिये। यदि लोगों को विश्वास हो जाए कि हमारा काम अच्छा है और उस से लाभ होता है, तो वे अपने आप बिना कहे भी उसे अपना लेंगे और वैसा करने लगेंगे। अन्यथा हजारों अच्छी अच्छी दलीलों से

कुछ होना-जाना नहीं है—मधुर वाणी से और भाषा से किसी को मुग्ध भले ही कर लिया जाय।

हम सब मिलकर कार्य करें

यह लोक-तंत्र का युग है। इसमें किसी भी विषय का निर्णय अल्प-मत और बहुमत के आधार पर ही किया जाता है। लेकिन इस अल्प और बहुमत के झगड़ेने हमें चक्कर में डाल दिया है। मनुष्य यदि अपने मत को हठाग्रह का रूप न दे, तब तो यह एक अच्छा मार्ग है। लेकिन देखा यह गया है कि इससे दलबन्दियाँ बढ़ती हैं। फूट को उत्तेजना मिलती है। इसलिए हमें ऐसे कामों को हाथ में लेना चाहिए जिनके कारण मत-गणना का अवसर ही न आए और यदि आए भी तो सद्भावना नष्ट न होने पावे। सारे कार्य सर्वानुमति से होने चाहिए। मत-गणना और चुनाव से ऐसा विष फैल रहा है कि भाई भाई का शत्रु बनता जा रहा है, मित्र की मित्रता टूटी जा रही है। वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए कुछ विचारकों ने मान लिया है कि मत देना अपने आपको कीचड़ में फँसाना है और आगे से वे किसी को अपना मत नहीं देंगे। ऐसे ही कार्यों का चुनाव होना चाहिए जिन्हें हम एक मत से संयोजित कर सकें। इससे हमारे कार्य में तेज प्रगट होगा। हमें काम करना है, फूट नहीं फैलानी है।

जातिवाद और हमारा लक्ष्य

यह बात बिल्कुल सही है कि जातिवाद का विष इन दिनों बहुत बढ़ रहा है। वह राष्ट्रीय शान्ति के लिए घातक है। हर जाति अपने से भिन्न जाति को अपनी भलाई में बाधक मानकर दूसरे के मार्ग में स्वयं बाधक बनती जा रही है। प्रान्त, भाषा और जाति के इन वादों की विनाशक लपटें जैन समाज को भी स्पर्श कर गई हैं। राजस्थान के, रहने वाले हम सुदूर महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, बङ्गाल, बम्बई और मद्रास आदि प्रान्तों में जाकर व्यापार करते हैं, घर बसाते हैं और धन कमाते हैं। किन्हीं भी

कारणों से कहिए, उन उन प्रान्तों के मूल निवासियोंकी अपेक्षा हमारी आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई। यह उन लोगों के लिए ईर्षा की बात होना स्वाभाविक था। चारों तरफ यही दिखाई दे रहा है। धनिकों के प्रति अभाव-पीड़ितों का जो आज दृष्टिकोण है उसे अवास्तविक नहीं कहा जा सकता। बिहार में बंगालियों के प्रति जो भाव है वही दूसरे प्रान्तवालों में राजस्थानियों के प्रति है। इसलिए यह कोई बात नहीं है कि प्रान्तीयता और जातीयता किसी एक खास प्रान्त और जाति के प्रति ही पैदा हुई है। यह हवा तो चारों ओर बह रही है। इसकी जड़ मनुष्य का स्वभाव है। हर व्यक्ति में 'स्व' के प्रति आसक्ति और मोह होता है, उसी की ओर उसका झुकाव होता है। इस स्वभाव-वृत्ति में हमें इतना ही सुधार करने की जरूरत है कि स्वजाति की सेवा दूसरी जातियों के लिए कुसेवा और बाधक न बनकर विकास में पूरक और सहायक बने। ऐसा होनेपर एक जाति का कार्य देश के लिए अपने आप सहायक बन जाएगा।

भलाई की साम्प्रदायिकता उपादेय है

इस बारे में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। छोटे-छोटे समूह बना कर कार्य करने में एक प्रकार की सुविधा रहती है। जिन लोगों से हमारा जितना निकटवर्ती सम्पर्क और सम्बन्ध रहता है, कार्य में उतनी ही आसानी होती है। उनसे चर्चा करने में अधिक निःसंकोचता होती है। लेकिन इस में विवेक रखने की इसीलिए जरूरत है कि कहीं हम सम्बन्धों और निकटता को पक्षपात और मोह में रंग न लें। अपनों के बीच रहकर और उनकी भलाई की सोचकर भी उससे किसी का अहित नहीं होगा यह सावधानी सदा रखनी होगी। इस तरह कोई भी जाति किसी की भी ईर्षा और द्वेष की पात्र न होगी। मेरी बात लीजिए। भाई साहब श्री० राजमलजी की प्रेरणा से मैं खेती के कार्य में रस लेने लगा। सेठ जमनालालजी बजाज की खेती कंपनी की भागीदारी में तथा निजी रूप

में भी दो-चार गाँवों में मैं खेती करता हूँ। इस बात का मैं पूरा ध्यान रखता हूँ कि मेरी खेती बढ़िया हो, फसल खूब हो। स्वाभाविक ही है कि इस तरह मेरी खेती दूसरों की अपेक्षा कुछ अच्छी ही होती है। मेरी खेती से अधिक आमदनी होते देखकर दूसरों ने भी अपनी खेती पर ध्यान देना शुरू किया और अब सारे गाँव की खेती बढ़िया होने लगी है। इस तरह यदि एक व्यक्ति, परिवार, जाति या प्रान्त का काम स्वयं अपनी सीमा के लिए अच्छा होता है तो उसका लाभ दूसरों को भी मिले बिना नहीं रह सकता। जिसकी नींव में भलाई है ऐसी साम्प्रदायिकता को मैं संकीर्णता से परे मानता हूँ।

समय अनुकूल है

हम सब को समाज की भलाई किस तरह की जाय, यह सोचना है। हमारे सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि जीवन-निर्वाह सुख से कैसे किया जाय। यह प्रश्न यों तो मनुष्य के समान प्राचीन है। किन्तु हर समय भूत-काल अच्छा और वर्तमान कठिन ही कहा जाता रहा है। और निरन्तर भविष्य के सुख की आशा में संगठन पर जोर दिया जाता रहा है। महंगाई बढ़ गई है, खर्च बढ़ गया है, जीवन-निर्वाह मुश्किल और चिन्ताप्रद बन गया है। फिर भी मेरा तो खयाल है कि ऐसा समय इतिहास के हजारों वर्षों में नहीं आया। हम स्वतंत्र हुए और अहिंसा से। दो दो महायुद्ध से संतप्त होकर आज विश्व शान्ति को ढूंढ रहा है। अहिंसा धर्मियों के लिए यह अपूर्व अवसर है कि वे अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करें और शान्ति के पिपासुओं को अहिंसा का झरना बताएँ। लेकिन यह केवल दूर से उंगली बताने से नहीं होगा। निजी अहिंसक आचरण द्वारा ही हम विश्व को अहिंसा का पाठ पढ़ा सकेंगे।

भय हिंसा है

भयभीत रहकर संगठन करने की बात जँचती नहीं। डर में रक्षा का भाव है, और उसके लिए हिंसा मूलक संगठन भी आवश्यक हो जाता

है। और यह चीज दूसरों के प्रति घृणा और तिरस्कार प्रकट करती है। डरनेवाला दूसरे की रक्षा की नहीं सोच सकता। और यही हिंसा है। दूसरे की रक्षा की सोचना ही अहिंसा है।

मध्यम वर्ग की आर्थिक दीनता

मध्यम वर्ग की स्थिति इस समय संकट पूर्ण है। मूर्तिपूजक श्वेताम्बर कॉन्फरेंस ने अपने फालना अधिवेशन में इस संबन्ध में कुछ फंड भी एकत्रित किया है, लेकिन मैं सोचता हूँ लाखों नहीं करोड़ों के फंडों से भी कुछ नहीं होनेवाला है। इस संबन्ध में पू० विनोबाजी से मैंने चर्चा की थी। उन्होंने बताया :—

"मध्यम वर्ग की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि ऐसे परिवारों में कमानेवाला एक होता है, और एकही की कमाई पर परिवार का खर्च निर्भर रहता है। उसे हर चीज मोल लेनी पड़ती है। अतः इस वर्ग के परिवारों की स्त्रियाँ कुछ काम करें और उद्योग द्वारा ही बालकों की शिक्षा हो तो इस वर्ग का आर्थिक बोझ बहुत कुछ हलका हो सकता है। राजस्थान में अच्छे अच्छे घरों की स्त्रियाँ कातती थीं। जमनालालजी बजाज की माँ बूढ़ी होनेपर भी काफी सूत कात लेती हैं। जब वे जीवनोपयोगी वस्तुएँ पैदा करेंगी तब न केवल कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति ही सुधरेगी, उद्योग का वातावरण भी निर्माण होगा। आज मध्यम वर्ग में जो दीनता आ गई है वह नष्ट होकर स्वावलंबन और आत्म-विश्वास बढ़ेगा।"

विनोबाजी की यह सूचना विचारणीय ही नहीं, प्रयोग में लाने योग्य भी है। और यदि इस दिशा में कदम उठाया गया तो देश की भी बहुत कुछ आर्थिक समस्या हल हो सकती है। वस्तु को छोड़कर जब हम रुपए के पीछे पड़ते हैं तब अपने आप में हम कितने दुखी हो जाते हैं इसका एक उदाहरण आपके सामने रखता हूँ।

एक उदाहरण

छोटे-छोटे राज्य जब खतम हुए तब बहुत से लोग बेकार हो गए। मध्य भारत के एक छोटे से राज्य की राजधानी में एक भाई रहते थे। ३० या ४० रु० उनका वेतन था और निजी मकान था। नौकरी तथा दो-एक मवेशियों के पालन से गृहस्थी चल जाती थी। बड़ा शहर था नहीं। किसी तरह काम चल रहा था। अब अदालत बन्द होने से नौकरी छूटी और नौकरी की तलाश में घूमते फिरे। उनकी स्थिति को देखकर मेरे एक सेवा-भावी मित्र को उनपर दया आगई। एक शहर में ७५ रु० की नौकरी उन्हें दिलवा दी। जहाँ वे नौकरी करते हैं वहां से तो ५० रु० ही मिलते हैं, २५ की पूर्ति मित्र अपने पास से करते हैं। लेकिन ७५ रु० पाकर भी वे सुखी नहीं हैं। कुछ समय बाद मेरे मित्रको दिखाई दिया कि उस बेचारे का गाँव न छुड़ा कर वहीं किसी धंधेपानी से लगा दिया जाता तो कदाचित् मेरे २५ रु० उस के लिए उपयोगी बन पड़ते।

कार्य की सहायता ही आदमी को सशक्त बनाती है

तो, मैं कह यह रहा था कि केवल पैसा ही किसी के जीवन को ऊँचा नहीं उठा सकता। जो भाई और युवक काम चाहते हैं उन्हें अपने पास रखकर यदि समर्थ लोग योग्य बनावें और काम-धंधे से लगा देवें तो बहुत बड़ी सेवा होगी। पैसे की सहायता बला टालने से कम नहीं है। और इस से आदमी और भी अधिक बेकार और आलसी बनता है। काम सिखाकर उद्योग में लगवा देना ऐसी सहायता है जो पानेवाले को सशक्त और साहसी बनाती है। अब वह समय नहीं रहा कि श्रमको हल्का समझा जाय। बुद्धि और श्रमका यदि हम एक साथ उपयोग कर सकें तो हमारा भविष्य उज्ज्वल है—चिन्ता करने की कोई बात नहीं।*

---

*ओसवाल कार्य-कर्ता सम्मेलन नारायणगांव में दिया गया अध्यक्षीय भाषण

: १३ :

व्यापार और अहिंसा

जमनालाल जैन

अगर हम अहिंसा को आत्मा कहें तो व्यापार शरीर संज्ञा पा सकता है। बुद्धि आत्मा को चाहिए और रोटी शरीर को। यह जगत् है कि इसमें नाना तरह के वाद और विवाद हैं। एक कहता है कि जड़ का मोह मूढ़ता है और यों शरीर के सम्बन्ध मिथ्या हैं। दिखाई देने वाला जगत् का रूप और वैभव क्षणिक और अशाश्वत है। सूत्र में कह दिया गया कि जगत् माया है। लेकिन बुद्धि जड़ नहीं थी। उसने कहा—"नहीं, जगत् माया नहीं है। ईश्वर स्वयं धोखा है।" जो प्रत्यक्ष है और जिसका उपयोग है, उसके बिना उसकी सचाई को अस्वीकार कैसे किया जा सकता है?

अध्यात्मवाद आत्मा को लेकर चला और उसने भौतिकवाद को तुच्छ, अस्थिर, क्षणिक और दुःख का कारण बतलाया। यह बड़े अचरज की बात है कि अध्यात्मवाद का प्रभाव संसार के अधिकांश लोगोंपर बहुत गहरा स्थापित हुआ है। कम-से-कम विचारों में तो अध्यात्मवाद अपनी सत्ता जमा चुका है। यह कैसे हुआ, इसका ऐतिहासिक अन्वेषण यदि किया जाय तो बड़ी मनोरंजक सामग्री पढ़ने को मिल सकती है। मुझे तो ऐसा लगता है कि अध्यात्मवादियों में कुछ ऐसे गुण थे कि वे अपने कार्य में बहुत सफल हो सके। अध्यात्मवाद का सर्व प्रथम अस्त्र है—मरण या परिवर्तन। मरण या परिवर्तन का चित्र प्रस्तुत कर आदमी को जल्दी ही वश में किया जा सकता है। हर आदमी जानता है, देखता है और समझता है कि उसके पूर्वज मरे हैं, उसकी वस्तुएँ नष्ट हुई हैं, उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन हुआ है।

इस सचाई को वह इन्कार नहीं कर सकता। अध्यात्मवाद का दूसरा अङ्ग है—अदृश्य की पूजा। जिसे आदमी जानता नहीं, जो दिख नहीं सकता, उसे इतना चमत्कार-पूर्ण बनाकर मनुष्य के सामने पेश किया गया कि उस को बरबस उसे स्वीकार करना पड़ा। और उसका तीसरा अङ्ग है—आराम। श्रम और कष्ट कौन चाहता है? एक के बदले यदि आधी ही रोटी मिले तो भी आदमी श्रम से बचने की कोशिश करेगा। इसमें शक नहीं, अध्यात्मवाद ने आराम की बड़ी सुन्दर राह दिखाई है। अध्यात्म-वाद का सहारा लेकर कोई भी अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकता है और आत्म-कल्याण के नामपर बिना किसी श्रम के शरीर का आजीवन पोषण करता रह सकता है। अपने शब्दों में कह सकता हूँ कि मनुष्य को श्रम से बचे रहने के लिए अध्यात्मवाद ने वैराग्य नाम की बड़ी मीठी दवा पिलाई है।

अध्यात्मवाद में या कि वैराग्यवाद में ही एक और भी बड़ी विशेषता है। उस में अपने अभावों का समाधान और कमजोरियों का छिपाव बड़ी आसानी से किया जा सकता है। मुझे संगीत की परख नहीं है या मुझे हँसना नहीं आता है तो विरागी कहलाकर इसपर परदा डाला जा सकता है। जिससे आदमी की अयोग्यता छिप जाय, उसका आश्रय लेने में कोई क्यों हिचकिचाएगा? मान लीजिए मेरे पास इतने पैसे नहीं हैं या मैं कमा नहीं सकता हूँ कि हर दूसरे तीसरे दिन कपड़े बदलूँ और मैं अपनी विवशता के कारण अगर अस्त-व्यस्त तथा मैले-कुचेले कपड़ों में रहता हूँ तो यह मेरे लिए शर्म की बात हो सकती है। लेकिन लोग मुझे उदासीन या विरागी या कि दार्शनिक कहते हैं तो मेरी शर्म पर स्वभावतः पर्दा पड़ जाता है। यह पर्दा पड़ना एक प्रकार से महत्त्व को बढ़ाता है। ऐसी स्थिति में अध्यात्मवाद का सहारा अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होने लगता है। आज अध्यात्मवाद का जो परिणाम हमारे सामने है, उसका यह दर्शन है।

पर सच है कि व्यवहार में ऐसा आदमी पूरा बुद्धू समझा जाता है। कोई चतुर आदमी उसे आर्थिक या सामाजिक ज़िम्मेदारी नहीं सौंप सकता; भले ही उसके अध्यात्म की वह चाहे जितनी प्रशंसा करता रहे। तो मतलब यह कि व्यवहार का जो सत्य है, सिद्धान्त के काम का वह नहीं है।

यही हम व्यापार और अहिंसा में देख सकते हैं। बचपन में सुना था एक व्यापारी के मुख से कि व्यापार की उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन श्रेणियाँ हैं। उन्होंने बताया था—सराफी उत्तम, बजाजी मध्यम और कृषि जघन्य व्यापार है। व्यापारी अहिंसा-धर्मी थे। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह भी कहा था कि ज्यों ज्यों व्यापार में हिंसा बढ़ती जाती है, वह नीचे गिरता जाता है। मैं मति-मूढ़ बालक उस समय क्या जानता था कि हिंसा क्या और अहिंसा क्या है! पर अब समझ में आया कि हिंसा वह जिसमें केवल जीवों का घात होता है। यही व्यापारिक दृष्टिकोण व्यापार के श्रेणी-विभाजन में रहा। मेरा खयाल है, उस समय बाजार में सट्टा उतरा नहीं था। अगर उतरा होता तो इसमें शक नहीं कि सराफी को भी वह पीछे ढकेल देता। झूठ और परिग्रह उस अहिंसक के लिए चल सकता है जो केवल जीवों का घात करनेवाला हिंसक व्यापार नहीं करना चाहता। मैं इस अहिंसकता को यहीं तक सीमित मानता हूँ। और इसमें व्यापारी की मुख्य दृष्टि उसकी सुविधा की ही है। दूकान साफ हो, लेन-देन में कष्ट न हो, बैठक सुहानी हो, आराम से बैठने और सोने को मिले, मक्खियाँ भिन-भिन न करें और चींटियाँ फौज न बढ़ावें। इतनी सुविधा और व्यवस्थावाला व्यापार ही अहिंसक हो जाता है। यह सोचने की वहाँ जरूरत ही कब होती है कि उस व्यापार में सत्य, प्रामाणिकता, उपयोगिता, निर्लोभता और विनम्रता का कितना अंश व्यवहार में उतरता है। वहाँ असत्य चल सकता है, परिग्रह बढ़ सकता है, लेने-देने के बाटों में अन्तर रखा जा सकता है, ब्लेक मार्केट भी चल सकता है—सब कुछ चल सकता है—केवल कीड़ों-मकोड़ों की हिंसा नहीं चल सकती।

ऊपर सट्टे का जिक्र आया है। आज नगर-नगर और गाँव-गाँव बल्कि गली-गली में स्त्री और पुरुष, बच्चे और बूढ़े सट्टे के पीछे पड़े हुए हैं। एक दिन चर्चा करने पर एक भाई ने, जो खादीधारी हैं, कहा—'देखोजी, सट्टे जैसा प्रामाणिक धन्धा और कोई नहीं है। न उसमें पूंजी की जरूरत है, न दूकान की, न बही-खातों की, न लिखा-पढ़ी की। दिन भर परेशान भी नहीं होना पड़ता, रात में भी हम दो-चार घण्टे यह काम करते हैं और यह सारा काम विश्वास के बल पर चलता है। झूठ और हिंसा को तो इस में कतई स्थान नहीं है। आप के यहाँ तो बही-खातों में तथा कागज-पत्रों में लिखा-पढ़ी होने पर भी लोग लेन-देन में परेशान होते हैं, झूठ बोलते हैं।

मैं सुन ही सकता था, बोलता क्या! बेचारे दो या चार, आठ या दस रुपयों पर सौ सौ की जोखम उठाते हैं, रात के दो-दो बजे तक जागते हैं, और दूसरे दिन चुपके चुपके सारा भुगतान भी कर चुकते हैं। अचरज है कि अपने को प्रामाणिक कहनेवाला सटोरिया भी कानून से बच-कर चलना चाहता है। प्रामाणिकता में तो साहस होता है पर यहाँ तो भय विराजित है। मैं मानता हूँ कि जहाँ भय होता है, वहाँ सचाई नहीं रहती और अहिंसा भी नहीं रहती। सट्टे का धन्धा देखने में कितना ही प्रामाणिक प्रतीत हो और उसमें जीवों की हिंसा न होती हो; पर है वह प्रथम श्रेणी का हिंसक धन्धा। कारण, इसमें फँसा हुआ आदमी आलसी, निकम्मा और लोभी बनता जाता है। अपने भाग्य को परखने की ओट में वह चाहता है कि दूसरों की जेब का सैकड़ों रुपया उसकी तिजोरी में आ जाय। इस लूट का नाम अगर भाग्य है तो उस दान को भी पुरुषार्थ कहना चाहिए जो स्वर्ग पाने की रिश्वत में दिया जाता है।

आज के व्यापार की यही हालत है। जीवों की हिंसा से तो बचा गया, पर अहिंसा उसमें नहीं आ पाई। अन्न और वस्त्र के बिना किसी

का चल सका है ऐसा कोई दीखा नहीं। अहिंसा के महाव्रती साधु के दांतों तले भी भोजन के कौर पड़ते ही हैं। पानी वे छना ही पीते हैं। छानने का साधन वस्त्र है। पर अचरज है कि अन्न और वस्त्र के उत्पादन को वे निकृष्ट और हिंसक बतलाते हैं। माना, कि खेती में जीव-हिंसा होती है, पर उसकी मर्यादा है, उपयोगिता है, अनिवार्यता है और विवशता है। और फिर हिंसा कहाँ नहीं होती! रहने को मकान चाहिए, फिरने को सड़क चाहिए, बोलने में श्वासोच्छ्वास भी चलता है। मैं नहीं समझता कि इन सब क्रियाओं में बिना हिंसा के काम चल जाता है। भोजन बनता है, उस के लिए भी चूल्हा सिलगाना पड़ता है। मेरा खयाल है कि अन्न उत्पादन की अपेक्षा भोजन तैयार करने में अधिक जीव-हिंसा होती है। इस तैयार भोजन को आग ठण्डी करके किया जाय या चाहे जिस तरह; जो होनी थी वह हिंसा तो हो चुकी। तब क्या अहिंसा का महाव्रती भी महान् हिंसक नहीं हो जाता? नहीं, वह नहीं हो सकता, न होना चाहिए। क्योंकि यह अनिवार्यता है और दृष्टि इस में हिंसा की नहीं है।

इसी तरह कृषि को भी हिंसक उद्योग नहीं कहा जा सकता। मुझे तो ऐसा लगता है कि इसे हिंसक कहने वाला भी भारी हिंसक है। अगर भोजन ग्रहण करनेवाला साधु हिंसक नहीं हो जाता तो उसे पैदा करनेवाला कैसे हिंसक बन जाय? सच बात तो यह है कि ज्यों-ज्यों आदमी के पास पैसा बढ़ता गया, श्रम और प्रामाणिकता उससे दूर होती गई और वह परिग्रह के पीछे पड़ गया, त्यों-त्यों उसने अपनी सुविधा और रुचि के अनुसार हिंसा और अहिंसा की व्याख्याएँ रचकर अपने बड़प्पन को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।

व्यापार कोई हो और चाहे जैसा हो, उसकी अहिंसा केवल जीव-घात न करने तक ही सीमित नहीं है। उस अहिंसा का क्या मूल्य जिस से श्रम नष्ट होता हो और जो राष्ट्र-निर्माण के लिए घातक हो? और असत्य

तथा परिग्रह को पुष्ट करनेवाली अहिंसा भी क्या हिंसा नहीं है ? वही व्यापार अहिंसक हो सकता है जिससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती है, मनुष्य के स्वावलम्बन का विकास होता है। केवल जीवों की हिंसा से बचानेवाली अहिंसा, अहिंसा नहीं बल्कि अहिंसा की विडम्बना है। और इस दृष्टि से किया जानेवाला व्यापार, व्यापार नहीं बल्कि लूट है, अत्याचार है।*

---

* अहिंसा को हमें व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। अहिंसा का अर्थ मैं तो ऐसा करता हूँ कि जो कर्म प्रमाद, असावधानी और स्वार्थ के वशीभूत होकर किया जाता है और जिस कर्म से राष्ट्र का कोई हित नहीं होता, वह हिंसामय ही है—उस से जीवों का घात हो या न हो। आज तो हमारी अहिंसा हिंसा से बढ़ कर खतरनाक हो गई है। इस अहिंसा की विडम्बना पर क्या कभी रोक लगेगी ?